प्रकाशक—
सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी आगरा।

पहली बार १९५२
मूल्य
राज—संस्करण १।)
साधारण संस्करण ॥।)

मुद्रक
अमरचन्द्र
राजहंस प्रेस
दिल्ली

समर्पण

शुद्ध जैनत्व के महान् प्रचारक श्रद्धेय
पण्डित मुनि श्री खजानचन्द्र जी महाराज
दिवगतात्मा के अमर
साधक जीवन को
सभक्ति भाव
समर्पित

दिल्ली

—मुनि 'अमर'

दो शब्द

श्रद्धेय उपाध्याय कविरत्न पं० मुनि श्री अमरचन्द्र जी महाराज की यह एक और रचना पाठकों के करकमलों में जा रही है। उपाध्याय जी की अन्य रचनाओं की भाँति यह रचना भी अपनी एक आकर्षक विशेषता रखती है, जिसे पाठक पढ़कर ही अच्छी तरह जान सकेंगे।

उपाध्याय श्री जी हमारी समाज के एक सुन्दर निबन्धकार हैं। प्रस्तुत संग्रह में विभिन्न अवसरों पर जैनधर्म पर लिखे गए आपके कुछ निबन्धों का संकलन किया गया है। पाठकों को भाव और भाषा की दृष्टि से कुछ उतार चढ़ाव मालूम होगा जो कि काल भेद के कारण स्वाभाविक है। परन्तु जैन धर्म के वास्तविक गौरव को प्रकट करने में इन निबन्धों का जैनसमाज में अच्छा स्थान रहा है अतः एकत्रित हुए ये अपनी परम्परा को यहाँ भी अक्षुण्ण रखेंगे।

आशा है, उपाध्याय श्री जी के ऐसे उत्कृष्ट निबन्धों का संग्रह भी निकट भविष्य में प्रकाशित करने का शुभ सेवक को गौरव प्राप्त हो।

रतनलाल जैन
मंत्री—सन्मति ज्ञानपीठ
आगरा

विषय-सूची

जैनत्व की झाँकी

: १ :

देव

हमारा धर्म जैन धर्म है। तुम जानते हो, जैन किसे कहते हैं? हाँ ठीक है। तुम अभी इतनी दूर तक नहीं जाते हो। इसलिए तुम न बता सकोगे। लो, मैं ही बता दूँ। परन्तु ज़रा ध्यान से सुनो।

जैन का अर्थ है 'जिन' को मानने वाला। जो जिन को मानता हो, जिन की भक्ति करता हो, जिन की आज्ञा में चलता हो, वह जैन कहलाता है।

तुम प्रश्न कर सकते हो, 'जिन' किसे कहते हैं? जिन का अर्थ है, जीतने वाला। किसको जीतने वाला? अपने असली शत्रुओं को जीतने वाला। असली शत्रु कौन हैं? असली शत्रु राग और द्वेष हैं। बाहर के कल्पित शत्रु इन्हीं के कारण पैदा होते हैं।

'राग' किसे कहते हैं? मन पसन्द चीज़ पर मोह। 'द्वेष' क्या है? नापसन्द चीज़ पर नफ़रत। ये राग और द्वेष दोनों साथ रहते हैं। जिसको राग होता है उसे किसी के प्रति द्वेष भी होता है। और जिसे द्वेष होता है, उसे किसी के प्रति राग भी होता है।

राग और द्वेष ही असली शत्रु क्यों हैं? इसलिए शत्रु हैं कि ये हमें अत्यन्त दुःख देते हैं हमारा नैतिक पतन करते हैं, हमारी आत्मा की आध्यात्मिक उन्नति नहीं होने देते। राग के कारण माया और लोभ उत्पन्न होते हैं और द्वेष के कारण क्रोध तथा लोभ उत्पन्न होते हैं। क्रोध मान (गर्व) माया (कपट), और लोभ को जीतने वाला ही सच्चा 'जिन है।'

'जिन' राग और द्वेष से बिल्कुल रहित होते हैं, इसलिए उनका नाम 'वीतराग' भी है। राग और द्वेष रूपी असली शत्रुओं का हनन

अर्थात् नाश करते हैं इसलिए वे 'अरिहन्त' भी कहलाते हैं अरिहन्त- शत्रु-नाश करनेवाला।

जिन को 'अर्हत्' भी कहते हैं। अर्हत् किसे कहते हैं? अर्हत् का अर्थ योग्य है। किस बात के योग्य? पूजा करने के योग्य। जो महापुरुष राग द्वेष को जीत कर जिन हो जाते हैं, वे संसार के पूजने योग्य हो जाते हैं। पूजा का विशुद्ध अर्थ भक्ति है। अतः जो महापुरुष राग द्वेष को जीतने के कारण संसार के लिए पूजा यानी भक्ति करने के योग्य हो जाते हैं वे अर्हत् कहलाते हैं (भक्ति का अर्थ चढ़ावा चढ़ाना आदि नहीं है। भक्ति का अर्थ है सम्मान करना उनके बताये हुए रास्ते पर चलना।)

जिन को 'भगवान्' भी कहते हैं। भगवान का क्या अर्थ है? भगवान का अर्थ है—ज्ञानवाला। राग और द्वेष को पूर्ण रूप से नष्ट करने के बाद केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। केवल ज्ञान के द्वारा जिन भगवान तीन लोक और तीन काल की सब बातों को दर्पण प्रकाश के समान स्पष्ट रूप से जान लेते हैं।

जिन भगवान को 'परमात्मा' भी कहा जाता है। परमात्मा का अर्थ है, परम शुद्ध आत्मा। जो परम-शुद्ध आत्मा—केवल हो वह परमात्मा है। राग द्वेष को नष्ट करने के बाद ही आत्मा शुद्ध होता है, और परमात्मा बनता है।

जैन धर्म क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी संसारी देवताओं को अपना इष्ट देव नहीं मानता है। भला जो स्वयं काम क्रोध आदि के विकारों में फँसे हुए हैं वे दूसरों को विकार-रहित होने के लिए क्या आदर्श हो सकते हैं? इसलिए जैन धर्म में सच्चे देव वे ही माने गए हैं जो राग द्वेष को जीतने वाले हों कर्म रूपी शत्रुओं को नष्ट करने वाले हों तीन लोक के पूजनीय हों केवल ज्ञान वाले हों, परम शुद्ध आत्मा हों।

तुम प्रश्न कर सकते हो इस प्रकार राग और द्वेष के जीतनेवाले कौन-जिन भगवान हुए हैं? एक दो नहीं, अनेक हो गए हैं। जानकारी के

लिए एक दो प्रसिद्ध नाम बताये देता हूँ ?

वर्तमान काल-चक्र में सबसे पहले 'जिन' भगवान ऋषभ देव हुए हैं । आप भारतवर्ष की सुप्रसिद्ध साकेत नगरी के रहने वाले राजा थे । आपने राजा के रूप में न्यायनीति के साथ प्रजा का पालन किया, और बाद में संसार त्याग कर मुनि बने एवं राग द्वेष को क्षय करके जिन भगवान हो गए, मोक्ष में पहुँच गए ।

भगवान् नेमिनाथ, भगवान् पार्श्वनाथ, और भगवान् महावीर भी जिन भगवान् थे । ये महापुरुष राग और द्वेष को पूर्ण रूप से नष्ट कर चुके थे, केवल ज्ञान पा चुके थे । अपने अपने समय में इन्होंने जनता में अहिंसा और सत्य की प्राण प्रतिष्ठा की, और राग द्वेष पर विजय पाने के लिए सच्चे आत्म-धर्म का उपदेश देकर आत्मा को परमात्मा बनानेका मार्ग प्रशस्त किया ।

: २ :

गुरु

"मनुष्य के हृदय के अंधकार को दूर करने वाला कौन होता है ? क्या तुमने कभी इस प्रश्न पर कुछ सोच विचार किया है ? मालूम होता है, अभी तक इस तरफ तुम्हारा लक्ष्य नहीं गया है। आओ आज इस पर कुछ विचार कर लें।

मनुष्य के मन के अज्ञान अन्धकार को दूर करने वाला और ज्ञान का प्रकाश फैलाने वाला गुरु होता है। गुरुदेव के बिना दुनिया के मोह विकारों में डूबे हुए प्राणी को कौन आगे बढ़ा सकता है ? ज्ञान की आँखें गुरु ही देता है।

हाँ तो क्या तुम बता सकते हो, गुरु कौन होते हैं ? सच्चे गुरु का क्या लक्षण है ? जैन धर्म में गुरु किसे कहते हैं ? जैन धर्म में गुरु का महत्व बहुत बड़ा है, परन्तु है वह सच्चे गुरु का। जैन धर्म [illegible] धर्म नहीं है जो हर किसी दुनियादार भोग विलासी आदमी को गुरु मान कर पूजने लगे। वह गुणों की पूजा करता है, शरीर और वेष की नहीं। जैन धर्म आत्मा की पूजा करने वाला है। इस लिए वह गुणों का पुजारी है।

हाँ, तो जैन धर्म में वही त्यागी आत्मा गुरु माना जाता है, जो धन दौलत का त्यागी हो मकान दुकान आदि के प्रपंचों से रहित हो अहिंसा सत्य आदि का शुद्ध पूरा आचरण करता हो और उसी का बिना किसी लोभ-लालच के जन-कल्याण की भावना से उपदेश देता हो। तथा गुरु वही है, जो जिन भगवान के द्वारा प्ररूपित शास्त्रों में बताए हुए आत्मा से परमात्मा बनने के आदर्श को सामने रख कर अपने विशुद्ध आचरण तथा ज्ञान से उस आदर्श को प्राप्त करना चाहता हो।

जैन धर्म में त्याग का ही महत्त्व है। भोग विलासों को त्याग कर आध्यात्मिक साधना की आराधना करना ही यहाँ श्रेष्ठ जीवन का लक्षण है। यही कारण है कि जैन साधुओं का तपश्चरण की दृष्टि से बड़ा ही कठोर जीवन होता है। जैन साधु कड़ी से कड़ी सरदी पड़ने पर भी आग नहीं तापते। प्यास के मारे कंठ सूख जाने पर भी सचित्त (कच्चा) पानी नहीं पीते। चाहे जितनी भूख लगी हो पर फल आदि कच्ची सब्जी नहीं खाते। आग और हरी सब्जी का स्पर्श भी नहीं करते। बुढापा या बीमारी होने पर भी पैदल ही चलते हैं, कोई भी सवारी काम में नहीं लाते। पैरों में जूते नहीं पहनते। किसी भी शराब आदि नशीली चीज को काम में नहीं लाते। पूर्ण ब्रह्मचर्य पालते हैं, स्त्री को छूते तक नहीं। कौडी पैसा आदि कुछ भी धन पास नहीं रखते।

जैन साधुओं के पाँच महाव्रत बतलाए हैं, जो प्रत्येक साधु को, चाहे वह छोटा हो या बड़ा हो, अवश्य पालन करने होते हैं —

(१) अहिंसा—मन से, वचन से, शरीर से किसी भी जीव की हिंसा न खुद करना, न दूसरों से कराना, न करने वालों का अनुमोदन=समर्थन ही करना।

(२) सत्य—मन से, वचन से, शरीर से न खुद झूठ बोलना, न दूसरों से बुलवाना, न बोल ने वालों का अनुमोदन करना।

(३) अचौर्य—मन से, वचन से, शरीर से न खुद चोरी करना, न दूसरों से करवाना, न करने वालों का अनुमोदन करना।

(४) ब्रह्मचर्य—मन से, वचन से, शरीर से न मैथुन=व्यभिचार खुद करना, न दूसरों से करवाना, न करने वालो का अनुमोदन करना।

(५) अपरिग्रह—मन से, वचन से, शरीर से परिग्रह=धन न खुद रखना, न दूसरों से रखवाना, न रखने वालों का अनुमोदन करना।

जैन साधु का जीवन तप और त्याग का इतना कठोर जीवन है कि

आज उसकी सानी का दूसरा कोई साधु नहीं मिलेगा। यही कारण है कि जैन साधु संख्या में बहुत थोड़े हैं, जब कि दूसरे वेशधारी साधुओं की देश में भरमार है। आज छप्पन लाख साधु नाम धारियों की फौज भारतवर्ष के लिए भार बन चुकी है। अतः गुरु हर किसी को नहीं बनाना चाहिए। कहा है—'गुरु कीजे जान कर पानी पीजे छान कर।

: ३ :

धर्म

तुम्हारा कौन सा धर्म है ? जैन धर्म । धर्म का क्या अर्थ है ? जो दुःख से, दुर्गति से, पापाचार से, पतन से बचाकर आत्मा को ऊँचा उठाने वाला है, धारण करने वाला है, वह धर्म है ।

सच्चा धर्म कौन होता है ? जिससे किसी को दुःख न पहुँचे, ऐसा जो भी अच्छा विचार और अच्छा आचार है, वही सच्चा धर्म है । क्या जैन धर्म भी सच्चा धर्म है ? हाँ, वह अच्छे विचार और अच्छे आचार वाला धर्म है, इस लिए सच्चा धर्म है ।

जैन धर्म का क्या अर्थ है ? जिन भगवान का कहा हुआ धर्म, वह जैन धर्म । जिन भगवान कौन ? जो राग द्वेष को जीत कर पूर्ण पवित्र और निर्मल आत्मा हो गए हैं, वे जिन भगवान हैं, श्री महावीर आदि ।

जैन धर्म के क्या दूसरे भी कुछ नाम हैं ? हाँ, दया धर्म, स्याद्वाद धर्म, आर्हत धर्म, निर्ग्रन्थ धर्म आदि । जैन धर्म मे दया का बड़ा महत्त्व है, इसलिए वह दया धर्म है । स्याद्वाद का अर्थ पक्षपात रहितता है, इसलिए पक्षपातरहित समभाव का समर्थन करने से जैन धर्म स्याद्वाद धर्म है । 'अर्हन्त' जिन भगवान को कहते हैं, इसलिए उनका बताया हुआ धर्म, आर्हत धर्म है । निर्ग्रन्थ का अर्थ परिग्रह-रहित होता है । जैन धर्म परिग्रह का अर्थात् धन संपत्ति के संग्रह का त्याग बतलाता है, इसलिए वह निर्ग्रन्थ धर्म है ।

जैन धर्म कब से चला ? जैन धर्म नया नहीं चला है, वह अनादि है । दया ही तो जैन धर्म है । और संसार में जिस प्रकार दुःख अनादि है, उसी प्रकार जीवों को दुःख से बचाने वाला दया भी अनादि है । अनादि दया का मार्ग ही जैन धर्म कहलाता है ।

जिन भगवान् का कहा हुआ धर्म ही तो जैन धर्म है इस लिए अनादि कैसे हुआ ? जिन भगवान् कोई एक नहीं हुआ है। पूर्वकाल में जिन भगवान अर्थात् तीर्थंकर अनन्त हो गए हैं और भविष्य में भी अनन्त होते रहेंगे, अतः जैन धर्म अनादिकाल से चला आता है। समय समय पर होने वाले जिन भगवान उसे अधिकाधिक प्रकाशित करते हैं, देश काल की परिस्थिति के अनुसार उसकी नवीन पद्धति से पुनः स्थापना करते हैं। जिन भगवान जैन धर्म के चलाने वाले नहीं वरन् उसका समय समय पर सुधार करने वाले उद्धारक हैं।

सच्चा जैन किसे कहते हैं ? धर्म का मूल दया है, अस्तु जो जीव मात्र को अपने समान समझ कर उनकी हिंसा से बचता है प्राणी मात्र के लिए दया भाव रखता है, वह सच्चा जैन है।

जैन धर्म का कौन पालन कर सकता है ? जैन धर्म का कोई भी भव्य प्राणी पालन कर सकता है। जैन धर्म में जाति और देश का बन्धन नहीं है। किसी भी जाति का और किसी भी देश का मनुष्य जैन धर्म पालन कर सकता है। हिन्दू हो मुसलमान हो ईसाई हो ब्राह्मण हो पाश्चात्य हो, अंग्रेज हो कोई हो, जो जैन धर्म का पालन करे, वह जैन है।

जैन धर्म का सिद्धान्त बहुत गंभीर है। अतः उसका पूर्ण परिचय तो जैन धर्म के प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से ही हो सकता है। हाँ संक्षेप में जैन धर्म के मोटे मोटे सिद्धान्त इस प्रकार हैं :—

१ जगत अनादि है।	९ कर्म जड़ रूप हैं।
२ आत्मा अमर है।	१० अशुद्ध भावों से कर्म बंधते हैं।
३ आत्मा अनन्त हैं।	११ शुद्ध भावों से कर्म छूटते हैं।
४ आत्मा ही परमात्मा होता है।	१२ स्वर्ग नरक मोक्ष हैं।
५ आत्मा कर्म बाँधता है।	१३ पुण्य, पाप हैं।
६ आत्मा कर्म तोड़ता है।	१४ जात पांत कोई नहीं।
७ कर्म ही संसार है।	१५ शुद्ध आचरण ही मोक्ष है।
८ कर्म का नाश ही मुक्ति है।	१६ अहिंसा ही सबसे बड़ा धर्म है।

: ४ :

तीन रत्न

तीर्थंकर किसे कहते हैं ?

'तीर्थ' तैरने के साधन को कहते हैं। अस्तु जो संसार सागर से तैरने के साधनों का उपदेश करता है, तैरने के साधनों का प्रचार करता है, वह 'तीर्थंकर' है। भगवान महावीर आदि जिन भगवान तीर्थंकर कहलाते हैं।

तैरने के क्या साधन हैं ?

तैरने के साधन तीन हैं—(१) सम्यग् दर्शन, (२) सम्यग्ज्ञान, (३) और सम्यक् चारित्र।

सम्यग् दर्शन किसे कहते हैं ?

देव अरिहन्त भगवान, गुरु निर्ग्रन्थ जैन साधु, और धर्म अहिंसा सत्य आदि जैन धर्म—इन तीनों की सच्ची श्रद्धा का नाम ही सम्यग् दर्शन है

सम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

सम्यग् दर्शन का ही दूसरा नाम सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व का अर्थ, खरापन है। विवेक पूर्वक जाँच पड़ताल करके सच्चे देव, सच्चे गुरु, और सच्चे धर्म को मानना ही सम्यक्त्व है। जो इस प्रकार के सम्यक्त्व को धारण करे, वह साधक सम्यग् दृष्टि कहलाता है।

सम्यग् ज्ञान किसे कहते हैं ?

वस्तु के स्वरूप को यथार्थ रूप से जानना, सच्चे रूप से समझना सम्यग् ज्ञान है। जीव, अजीव, पाप, पुण्य, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इन नौ तत्वों का यथार्थ रूप से ज्ञान करना, सम्यग् ज्ञान है। सम्यग् ज्ञान पूर्ण रूप से अरिहन्त दशा में प्राप्त होता है। जब आत्मा राग द्वेष का क्षय कर केवल ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, तब वह पूर्ण सम्यग् ज्ञानी हो जाता है।

सम्यक् चारित्र किसे कहते हैं ?

सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान के अनुसार यथार्थ रूप से अहिंसा सत्य आदि सदाचार का पालन करना ही सम्यक् चारित्र है। गृहस्थ का सम्यक् चारित्र अधूरा होता है, और साधु का सम्यक् चारित्र पूर्ण होता है। साधु के सम्यक् चारित्र की पूर्णता भी केवल ज्ञान होने के बाद मोक्ष में जाने से कुछ समय पहले होती है। आत्मा की पूर्ण निष्कम्प अर्थात् अचंचल अवस्था का नाम ही योग-निरोधन रूप पूर्ण चारित्र है और वह इसी समय प्राप्त होता है। सम्यक् चारित्र के पूर्ण होते ही आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

पहले सम्यग् दर्शन होता है। बाद में सम्यग् ज्ञान होता है। और इसके बाद में सम्यक् चारित्र होता है। सम्यग् दर्शन अर्थात् सच्ची श्रद्धा के बिना ज्ञान सम्यग् ज्ञान नहीं होता अज्ञान ही रहता है। और सम्यग् दर्शन तथा सम्यग् ज्ञान के बिना चारित्र सम्यक् चारित्र नहीं होता सदाचार नहीं होता अनाचार ही रहता है।

जैन धर्म में उक्त सम्यग् दर्शन सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को रत्न कहते हैं। वस्तुतः आत्मा का यही अन्तरंग धन है। इस अन्तरंग धन के द्वारा ही आत्मा सच्चा आनन्द प्राप्त कर सकता है। यह जैन धर्म का रत्नत्रय सर्वदा जयवन्त हो!

: ५ :

भगवान् ऋषभ देव

भगवान ऋषभ देव कब हुए ? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें मानवसभ्यता के आदिकाल मे जाना होगा । वह आदिकाल, जब न गाँव बसे थे और न नगर, न खेतीबाड़ी का धँधा था और न दूकानदारी, न कोई कला थी और न कोई उद्योग, सब लोग वृक्षों के नीचे रहते थे, और वनफल खाकर जीवन यापन करते थे । मानवजीवन का कोई महान् उद्देश्य, तब की जनता के सामने नहीं था । जीवन सुखमय था, किन्तु संघर्ष शून्य । जैन परिभाषा में यह काल युगलियों का काल था, वर्तमान अवसर्पिणी काल चक्र का तीसरा सुषम-दुषमा आरक समाप्त होने को था ।

भगवान ऋषभ देव, इसी युग के जन नायक अन्तिम कुलकर श्री नाभिराजा के सुपुत्र थे । आपकी माता का नाम मरुदेवी था । भगवान ऋषभ देव का बाल्यकाल इसी यौगलिक सभ्यता में गुजरा ।

कालचक्र बदल रहा था । प्रकृति का वैभव क्षीण होने लगा, युगलियों के एकमात्र जीवनाधार वृक्ष कम होने लगे, और जो वृक्ष थे, वे भी फल फूल कम देने लगे । इधर उपभोग करने वाली जनसंख्या दिन प्रतिदिन बढ रही थी । जीवनोपयोगी साधन कम हों और उनका उपभोग करने वाले अधिक हों, तब बताइए, क्या हुआ करता है ? संघर्ष, द्वन्द्व, लड़ाई-झगड़ा । शान्त यौगलिक जनता में संग्रह बुद्धि पैदा हो गई, भविष्य की चिन्ता ने निस्पृहता एवं उदारता कम करदी । और इसके फलस्वरूप आपस मे वैर विरोध, घृणा द्वेष बढने लगा । यह निष्क्रिय भोग-भूमि से सक्रिय कर्म भूमि का आरंभकाल था ।

समय को परखने वाले श्री नाभिराजा ने अब जन नेतृत्व का भार

भ ने सुयोग्य पुत्र ऋषभ को सौंप दिया । बड़ा कठिन समय था । मानव जाति का भाग्य आशा और निराशा के बीच झूल रहा था । उस समय मानव जाति को एक सुयोग्य कर्मठ नेता की आवश्यकता थी, और वह भी ऋषभ देव के रूप में उसे मिल गया ।

भगवान ऋषभदेव ने जनता का नेतृत्व बड़ी कुशलता और योग्यता से किया । उनके हृदय म मानवजाति के प्रति अपार करुणा उमड़ रही थी । मानवजाति को विनाश के भयंकर गर्त से बचाने के लिए, उन्होंने दिन रात एक कर दिया । भगवान ने जीवनोपयोगी साधनों के उत्पादन और संरक्षण का सब प्रकार से क्रियात्मक उपदेश दिया । वृक्षों को सींच ने की नये वृक्ष लगाने की, अन्न बोने की, अन्न पकाने की व्यापार करने की पात्र बनाने की, वस्त्र बनाने की, रोग की चिकित्सा की, सन्तान व पालन पोषण आदि की सब पद्धतियाँ बतलाई । गाँव कैसे बसाने नगरों का निर्माण कैसे करना गर्मी सर्दी और वर्षा से बचने के लिए घर कैसे बनाने—यह सब काम भी जनता को सिखा दिए गए । भारतवर्ष की सर्व प्रथम नगरी, भगवान ऋषभ देव के तत्वावधान में बनी और उसका नाम विनीता रखा गया जो आगे चल कर अयोध्या के नाम से प्रसिद्ध हुई । भगवान ने मनुष्य को निःसहाय प्रकृति मुखापेक्षी न रख कर उसे पुरुषार्थ का पाठ पढ़ाया और प्रकृति को अपने नियंत्रण म कर उससे मन चाहा काम लेना सिखाया । मनुष्य की प्रकृति पर अधिकार करने की यह सब प्रथम विजय यात्रा थी । और यह विजय यात्रा भगवान ऋषभ देव के नेतृत्व में प्रारंभ हुई इसीलिए जैन इतिहासकारों ने भगवान ऋषभ देव जी का दूसरा गुण सूचक नाम आदि नाथ बताया है ।

भगवान ऋषभ देव पूर्ण युवा हो चुके थे और बड़ी योग्यता से जनता का नेतृत्व कर रहे थे । गृहस्थ धर्म का पूर्ण आदर्श स्थापित करने के लिए अब विवाह का प्रसंग आया । मैं बता चुका हूँ कि युगलियों के युग में मानव-जीवन की कोई खास मर्यादा न थी । वह युग सभ्यता की दृष्टि से एक प्रकार से अविकसित युग था । अस्तु उस समय विवाह संस्कार की

प्रथा भी प्रचलित न थी। भगवान ऋषभ देव ने कर्मभूमि युग के आदर्श के लिए और पारिवारिक जीवन को पूर्ण रूप से व्यवस्थित करने के लिए विवाह प्रथा को प्रचलित करना, उचित समझा। अतएव श्री नाभि राजा और देवराज इन्द्र के परामर्श से भगवान का विवाह सुमगला और सुनदा नाम की कन्याओं के साथ सम्पन्न हुआ। भारतवर्ष के इतिहास मे यह प्रथम विवाह था। भगवान के विवाह का आदर्श जनता में भी फैला और समस्त मानवजाति सुगठित परिवारों के रूप मे फलने-फूलने लगी।

सुमगला के परम प्रतापी पुत्र भरत हुए। ये बड़े ही प्रतिभाशाली सुयोग्य शासक थे। आगे चल कर इन्होंने अपने अप्रतिमशौर्य से भरत क्षेत्र के छह खण्डों पर अपनी विजयपताका फहराई और इस वर्तमान अवसर्पिणीकाल के प्रथम चक्रवर्ती राजा हुए।

दूसरी रानी सुनदा के पुत्र बाहुबली हुए। बाहुबली अपने युग के माने हुए शूरवीर योद्धा थे। इनका शारीरिक बल, उस समय अद्वितीय समझा जाता था। ये बड़े ही स्वतत्र प्रकृति के युवक थे। जब महाराजा भरत चक्रवर्ती हुए तो उन्होंने बाहुबली को भी अपने करदत्त राजा के रूपमे अधीन रहने के लिए बाध्य किया, परन्तु भला ये कब मानने वाले थे। बाहुबली भरत को बड़े भाई के रूप में तो आदर दे सकते थे, परन्तु शासक के रूप में आदर देना उनकी स्वतत्र प्रकृति के लिए सर्वथा असभव था। अन्त मे दोनों का परस्पर युद्ध हुआ। बाहुबली ने चक्रवर्ती को द्वन्द्व युद्ध में पछाड़ कर नीचा दिखा दिया, किन्तु उन्हें तत्काल ही वैराग्य हो आया और अशेष परिजन राज्य कोष तथा प्रभुत्व का परित्याग कर जैन मुनि बन गए। इस घटना पर से बाहुबली जी की स्वतत्रता, नि:स्पृहता, आत्म गौरव, वीरता और धार्मिकता का भली भाँति पता लग सकता है।

हाँ, तो हम भगवान ऋषभ देव जी के परिवार की बात कह रहे हैं। भरत और बाहुबली के अलावा अट्ठाणवे पुत्र और भी थे। वे सब के सब बहुत सरल और सन्तोषी थे। भगवान् की दो सुपुत्रियाँ भी थी—

ब्राह्मी एवं सुन्दरी। ब्राह्मी सुमंगला की पुत्री थी तो सुन्दरी सुनन्दा की। दोनों बहनों का आपस का प्रेम जैन इतिहास में, बड़े गौरव की दृष्टि से अंकित किया गया है।

ब्राह्मी और सुन्दरी बहुत ही बुद्धिमती चतुर कन्याएँ थीं। भगवान ऋषभ देव ने अपनी दोनों पुत्रियों को बहुत ऊँचा शिक्षण दिया। ब्राह्मी ने लिपि ज्ञान, अक्षर ज्ञान, व्याकरण, छन्द, न्याय, काव्य, अलंकार आदि में विशेष पाण्डित्य प्राप्त किया; और सुन्दरी ने गणित विद्या में असाधारण चमत्कार दिखाया। भगवान ने सर्व प्रथम पुत्रियों को शिक्षा दी थी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वे स्त्री शिक्षा को कितना आवश्यक और प्रधान समझते थे। पुत्र और पुत्रियों में प्राय जग का-सा भेद, उन्हें सर्वथा अमान्य था। वे दोनों पर एक जैसा ही प्रेम रखते।

भगवान केवल अक्षर शिक्षण के ही पक्षपाती नहीं थे वे मानव जीवन के उपयोग में आने वाली कलाओं के शिक्षण को भी बहुत अधिक महत्त्व देते थे। उनके विचारों में गृहस्थ जीवन के श्रेष्ठत्व की परिभाषा कला और उद्योग ही थे। अतएव उन्होंने स्त्रियों को चौंसठ कलाओं और पुरुषों को बहत्तर कलाओं का भिन्न भिन्न रूप से शिक्षण दिया। भगवान ऋषभ देव इस प्रकार आदि युग के सर्व प्रथम शिक्षण शास्ता थे जिन्होंने स्त्री और पुरुष दोनों के लिए शिक्षा में कला और उद्योग का अद्भुत संमिश्रण किया।

भगवान ने भारतीय प्रजा का संगठन सुव्यवस्थित रूप से चलता रहे, इस उद्देश्य से मानव जाति को तीन भागों में विभक्त किया—क्षत्रिय वैश्य और शूद्र। जो लोग अधिक शूरवीर थे, शस्त्र चलाने में कुशल थे, संकटकाल में प्रजा की रक्षा कर सकते थे, आततायियों को दण्ड द्वारा शिक्षण देकर सुपथ गामी बना सकते थे उन्हें क्षत्रिय पद दिया गया। जो व्यापार में, व्यवहार में, कृषि में और पशुपालन आदि में निपुण थे वे वैश्य कहलाए। जिन्होंने सेवा वृत्ति स्वीकार की, उनकी 'शूद्र' संज्ञा हुई। चौथे ब्राह्मण वर्ण की स्थापना भगवान के

सुपुत्र महाराजा भरत ने, अपने चक्रवर्ती काल में की। जो लोग अपना जीवन ज्ञानाभ्यास में लगाते थे, प्रजा को शिक्षा दे सकते थे, समय पर सन्मार्ग का उपदेश करते थे, वे ब्राह्मण कहलाए। भगवान ऋषभ देव जी ने वर्णों की स्थापना में कर्म की महत्ता को स्थान दिया था, जन्म से जाति को नहीं। आगे चलकर वैदिक धर्म का महत्त्व बढ़ा तो कर्मणा वर्ण के स्थान में जन्मना वर्ण के सिद्धान्त को प्रतिष्ठा मिल गई। आज के ये जाति गत ऊँच नीच के भेद उसी वैदिक युग की देन हैं। यौगलिक सभ्यता में तो जातिवाद का नाम तक भी नही था। उस समय मनुष्य, केवल मनुष्य था, और कुछ नहीं।

भगवान का हृदय प्रारंभ से ही वैराग्य रस से परिप्लावित था। परन्तु जनकल्याण की भावना से वे गृहस्थ दशा में रह रहे थे और मानव समाज को सुव्यवस्थित बनाने का प्रयत्न कर रहे थे। अब ज्यों ही मानव जाति व्यवस्थित रूप से सभ्यता के ढाँचे में ढलकर उन्नति पथ पर अग्रसर होने लगी, तो प्रजा के शासन का भार भरत और बाहुबली आदि सुपुत्रों को देकर स्वयं मुनि दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा लेने के बाद भगवान, एकान्त शून्य वनों में ध्यान लगाकर खड़े रहते थे। उन दिनों भगवान ने अखण्ड मौन रक्खा हुआ था। किसी से कुछ भी बोलते चालते न थे। साधनाकाल में वैराग्य का उग्र वेग प्रवाहित था। और तो क्या, शरीर रक्षा के हेतु अन्न जल भी नहीं ग्रहण करते थे।

भगवान के साथ चार हजार अन्य पुरुषों ने भी दीक्षा ली थी। ये सब लोग भी प्रतिष्ठित जननायक थे, और भगवान से अत्यधिक घनिष्ट प्रेम रखते थे। ये लोग किसी गभीर चिन्तन के बाद आत्म निरीक्षण की दृष्टि से तो मुनि बने नहीं थे, भगवान के प्रेम के कारण ही असह्य विरह से कातर हो कर उनके पीछे चल दिए थे। अतएव मुनि दीक्षा में आध्यात्मिक आनन्द इन्हें नहीं मिल सका। भूख प्यास के कारण घबरा उठे। भगवान मौन रहते थे, इसलिए इनको पता न चला कि—'क्या करें और क्या न करें ?' मुनि वृत्ति का मार्ग छोड़कर, अब ये लोग जंगल में कुटिया बना

कर रहने लगे और मनमाना आचार गुजारा करने लगे। भारतवर्ष में विभिन्न धर्मों का इतिहास यहीं से प्रारम्भ होता है। भगवान ऋषभ देव के समय में ही इस प्रकार तीन सौ त्रिसठ मत स्थापित हो चुके थे। धर्म के मुख्यतया दो अंग हैं ज्ञान और आचरण जब मनुष्य की ज्ञान शक्ति दुर्बल होती है तो तत्वज्ञान में उसके पैर डोलता है और इससे जड़ चेतन्य बन्ध पाप पुण्य बन्ध और मोक्ष आदि के सम्बन्ध में एक दूसरे से टकराती हुई विभिन्न विचार धाराएं वह निकलती हैं। और जब आचरण शक्ति क्षीण होती है, तो आचार सम्बन्धी नियमों को मोह बुद्धि से विपरीत रूप दिया जाता है और मूठे तर्कों की आड़ में अपनी दुर्बलता का संरक्षण किया जाता है। धार्मिक मत भेदों में प्रायः ये ही मुख्य कारण होते हैं। दुर्भाग्य से भगवान ऋषभ देव के समय में भी मत विभिन्नता के ये ही दो मुख्य कारण हुए।

भगवान ऋषभ देव ने बारह महीने तक निरन्तर निराहार रहकर घोर साधना की। भयकर से भयकर प्रकृति के उपायों का भी उन्होंने प्रसन्न चित्त से सहन किया। भगवान की तितिक्षा बहुत उच्च कोटि पर पहुँच गई थी। परन्तु छद्मस्थ समाप्त होने पर भगवान ने विचार किया कि मैं तो इस प्रकार निराहार साधना का लम्बा मार्ग अपना कर आत्म कल्याण कर सकता हूं। मुक्ति तो मुझ प्यास के बश किसी भांति भी विचलित नहीं कर सकते। परन्तु मेरे अनुकरण पर चलने वाले दूसरे साधकों का क्या होगा? वे तो इस प्रकार चिर तपश्चरण नहीं कर सकते। बिना आहार पानी के साधारण औदारिक शरीर टिक भी नहीं सकता। बिचारे चार हजार साधक किस प्रकार पथ भ्रष्ट हो गए। आगे वाले साधकों को मार्ग प्रदर्शन के लिए मुझे भी आहार लेना ही चाहिए। अस्तु, भगवान ने आहार के लिए नगर में प्रवेश किया। उस समय की जनता साधुओं को आहार देने की विधि नहीं जानती थी। अतः भगवान को दृष्टि के अनुकूल निर्दोष आहार की प्राप्ति न हो सकी। सदोष आहार भगवान ने नहीं लिया। बहुत से लोग तो भगवान की

सेवा में हाथी घोड़ों की भेंट लाते थे और बहुत से तो रत्नों के थाल ही भर कर ले आते थे। अन्ततो गत्वा हस्तिनागपुर के राजकुमार श्रेयास ने, अपने पूर्वजन्म सम्बन्धी जाति स्मरण ज्ञान से जान कर, निर्दोष आहार ईख का रस, वहराया। यह ससार-त्यागी मुनियों को आहार देने का पहला दिन था। वैशाख शुक्ला अक्षय तृतीया के रूप में यह दिन आज भी उत्सव के रूप में मनाया जाता है।

भगवान ऋषभ देव नाना प्रकार से उग्र तपश्चरण करते रहे, आत्म साधना में लीन रहे। जब आध्यात्मिक दशा की उच्च कोटि पर पहुँचे तो चार घातिया कर्मों का नाश कर केवल ज्ञान प्राप्त किया। भगवान को केवल ज्ञान वट वृक्ष के नीचे हुआ था, अत आज भी भारत में वट वृक्ष को बहुत आदर की दृष्टि से देखा जाता है। भगवान ने केवल ज्ञान प्राप्त कर धर्म का उपदेश दिया और साधु तथा गृहस्थ-दोनों ही मार्गों का कर्तव्य बताया। यह कर्तव्य ही जैन धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जिन का बताया धर्म=कर्तव्य, जैन धर्म। भगवान ऋषभ देवजी ने स्त्री और पुरुष दोनों के जीवन को महत्व देते हुए चार सघ की स्थापना की—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। भगवान के पहले गणधर भरत महाराजा के सुपुत्र ऋषभसेन हुए, और सबसे पहली आर्यिकाएँ दोनों पुत्रियाँ ब्राह्मी तथा सुन्दरी हुई।

भगवान का जन्म चैत्र कृष्णा अष्टमी को हुआ था। और मुनि दीक्षा भी चैत्र कृष्णा अष्टमी को ही हुई। केवल ज्ञान फाल्गुण कृष्णा एकादशी को और निर्वाण माघ कृष्णा त्रयोदशी को हुआ। आज भी चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन भगवान ऋषभ देव की जयन्ती मनाई जाती है।

भगवान ऋषभदेव मानवजाति के सब प्रथम उद्धार कर्ता थे। भारतीय इतिहास मे उनका नाम अजर अमर रहेगा। ऋषभदेव जी केवल जैन धर्म की ही विभूति न थे, प्रत्युत विश्व की विभूति थे। यह भगवान की महत्ता का ही तो फल है कि वैदिक धम ने भी उन्हें अपना अवतार माना है। श्री मद् भागवत में भगवान ऋषभ देव की महिमा मुक्त कठ

से वर्णन की गई है। वहाँ लिखा है—'भगवान ने जो उपदेश दिया था वह वेदों में वर्णित है।' इस पर से भगवान के उपदेश की महत्ता और प्राचीनता वेदों से पहले की सिद्ध है।

: ६ :

भगवान् पार्श्व नाथ

भगवान् पार्श्वनाथ वर्तमान काल चक्र के तेईसवें तीर्थंकर हैं। आपकी प्रख्याति भी जैन समाज में कुछ कम नहीं है। जैन साहित्य का स्तोत्र विभाग, अधिकतर आप के ही स्तुतिपाठों से भरा पड़ा है। हजारों स्तोत्र आप के नाम पर बने हुए हैं, जिन्हें लाखों नर नारी बड़ी श्रद्धा भक्ति के साथ नित्य पाठ के रूप में पढ़ते हैं। कल्याण मन्दिर स्तोत्र तो इतना अधिक प्रसिद्ध है कि—शायद ही कोई धार्मिक मनोवृत्ति का शिक्षित जैन हो, जो उसे न जानता हो।

मूल आगमों में भी आप की कीर्ति-गाथा बड़े श्रद्धा भरे शब्दों में गाई गई है। भगवती सूत्र में आपका बहुत से स्थलों पर नामोल्लेख किया है, और स्वय भगवान महावीर ने आप को महापुरुषों की कोटि में स्वीकार करते हुए अतीव सम्मान पूर्ण शब्दों में स्मरण किया है।

जैन संसार ही नहीं, अजैन संसार भी आप से खूब परिचित है। एक प्रकार से अजैन संसार तो एक मात्र आप को ही जैनों का उपास्य देव समझता है। बहुत से अजैनों को स्वय लेखक ने यह कहते हुए सुना है कि—'ये जैनी हैं, जो पार्श्व नाथ को मानने वाले हैं।' राजपूताना आदि में तो अजैन लोग जैनों को शपथ दिलाते समय भी भगवान पार्श्व नाथ की शपथ दिलाते हैं। ऐतिहासिक विद्वान् भी श्री पार्श्वनाथ जी के ऐतिहासिकत्व को स्पष्ट रूप में स्वीकार करते हैं। पहले के कुछ विद्वान् जैन धर्म का प्रारंभ काल भगवान् महावीर से ही मानते थे, परन्तु अब तो एक स्वर से प्राय सब के सब विद्वान् जैन धर्म का सम्बन्ध आप से जोड़ने लग गये हैं, कुछ तो आपसे भी आगे ऋषभ देवजी तक पहुँच गए हैं। प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुस्तक 'भारतीय इतिहास की रूप

रेखा में तो आप ने इतिहास काल पर खूब अच्छा प्रकाश डाला गया है।

भगवान् पार्श्वनाथ का समय ईसा से करीब ८२ वर्ष पूर्व है। वह युग तापसों का युग था। हजारों तापस आश्रम बनाकर वनों में रहा करते थे और उग्र शारीरिक कष्टों द्वारा साधना किया करते थे। कितने ही तपस्वी वृक्षों की शाखाओं में औंधे मुँह लटका करते थे। कितने ही आकंठ जल में खड़े होकर सूर्य की ओर ध्यान लगाया करते थे कितने ही अपने आप को भूमि में दबाकर समाधि लगाते थे, और कितने ही पंचाग्नि तप तप कर अपने शरीर को झुलस डालते थे। अग्नि-तापसों का उस समय भारी प्राबल्य था। भोली जनता इन्हीं विवेक-शून्य क्रिया काण्डों में धर्म मानती थी और इस प्रकार देश भर का वातावरण धूम गर्म था।

भगवान् पार्श्वनाथ का संघर्ष अधिकतर इन्हीं तापस संप्रदायों के साथ हुआ। आप विवेकशून्य क्रिया काण्ड को हेय मानते थे और कहते थे कि ज्ञानपूर्वक मामूली सा क्रिया काण्ड भी जीवन में क्रान्ति ला देता है और ज्ञान के बिना उग्र क्रिया काण्ड करते हुए हजारों वर्ष भी बीत जावें तब भी कुछ नहीं हो सकता। बहुत बार तो विवेक शून्य तपश्चरण आत्मा को उन्नत बनाने के बजाय अधःपतन की ओर ले चलता है और साधक को किसी काम का भी नहीं छोड़ता है।

कमठ उस समय का एक महान् प्रतिष्ठाप्राप्त तापस था। सर्व प्रथम आपकी उसी से मुठभेड़ हुई। उसने वाराणसी के बाहर गंगा तट पर डेरा डाल रक्खा था और पंचाग्नि तप के द्वारा हजारों लोगों का श्रद्धाभाजन बना हुआ था। श्री पार्श्वप्रभु, इस समय वाराणसी के युवराज थे। (आपका जन्म वाराणसी नरेश अश्वसेन की धर्मपत्नी श्री वामा देवी की कुक्षि से हुआ था) आपने इस ढोंग को उघाड़ फेंकने का विचार किया और गंगा तट पर तपस्वी से धर्म के सम्बन्ध में बड़ी गम्भीर चर्चा के रूप में सत्य का वास्तविक स्वरूप जनता के समक्ष रक्खा। तपस्वी की धूनी में एक बड़ा नाग और नागिनी जल रहे थे आप

ने उन को भी बचाया, एव अपनी सुमधुर वाणी ने उन्हे सद्बोध देकर सद्‌गति का भागी बनाया । उक्त घटना का जैन समाज मे बड़ा भारी महत्व है। श्री हेमचन्द्राचार्य तथा भाव देव आदि प्राचीन विद्वानों ने स्वरचित पार्श्व चरित्रों मे इस सम्बन्ध मे अतीव हृदय ग्राही एव विवेचना पूर्ण वर्णन किया है। वतमान काल चक्र में जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, उन सब मे श्री पार्श्व ही ऐसे हैं, जिन्होंने गृहस्थ दशा मे भी इस प्रकार धर्म चर्चा में सार्वजनिक भाग लेकर सत्य प्रचार का श्री गणेश किया।

श्री पार्श्वनाथ जी का साधना काल भी बड़ा विलक्षण रहा है। युवावस्था में ही आपने काशीदेश के विशाल साम्राज्य को ठुकरा कर मुनिदीक्षा धारण की, और इतनी सफल तप साधना की कि जिससे हर कोई सहृदय पाठक सहसा चमत्कृत हो सकता है ? आपका हृदय सहन शीलता से इतना अधिक पूर्ण था कि भयकर से भयकर आपत्तियो मे भी सर्वथा अचल अकम्प रहे, जरा भी हृदय म ग्लानि का भाव नहीं आने दिया। कमठासुर ने आपको अतीव भीषण कष्ट दिए, परन्तु आप उस पर भी अन्तर्हृदय से दया का समुद्र ही बहाते रहे। आपके इस उदार समभाव पर आचार्य हेमचन्द्र ने त्रिषष्ठिशलाकापुरुष चरित्र के प्रारभ म क्या ही अच्छा लिखा है —

> कमठे धरणेन्द्रे च,
> स्वोचित कर्म कुर्वति ।
> प्रभुस्तुल्य मनोवृत्ति,
> श्री पार्श्वनाथ श्रियेस्तु व ॥

अर्थात् 'कमठासुर ने तो आपको महान कष्ट दिए, और उधर धरणेन्द्र ने आपको उपसर्ग से बचाकर महती सेवाभक्ति की, परन्तु आपका दोनों ही व्यक्तियों पर एक समान ही सद्भाव था, न कमठ पर द्वेष और न धरणेन्द्र पर अनुराग।'

श्री पार्श्वप्रभु आरभ से ही दया, क्षमा एव शान्ति के अवतार थे।

आपकी क्षमा की भावना इसी जन्म से शुरू न हुई थी। जैन लेखक कहते हैं कि आप कई जन्म से क्षमा का पाठ अपने अन्तस्तल में उतारते आ रहे थे। और आपने विरोधी कमठ पर, जो निरंतर नौ जन्म तक आप आप कष्ट देता रहा था कभी भी क्रोध नहीं किया था। अस्तु आप की यह भावना इस अन्तिम जन्म में पूर्ण शिखर पर पहुंची और आपने कैवल्य प्राप्त करके अपनी भावना का जनता में स्वतः प्रचार किया। विवेक शून्य क्रियाकांडों में उलझी हुई जनता को आपने विवेक पूर्वक क्रियाकाण्ड के पथ पर लगाया और संसार में अहिंसा की दुःखी फिर से बजायी। श्री पार्श्वनाथ ने क्या किया ? इस सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ न कह कर सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान श्री धर्मानन्द कौशाम्बी का लेख उद्धृत किए देता हूँ।

श्री कौशाम्बी जी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक भारतीय संस्कृति और अहिंसा में लिखते हैं :—

परिक्षित के बाद जनमेजय हुए और उन्होंने कुरु देश में महा यज्ञ करके वैदिक धर्म का झंडा फहराया। उसी समय काशी देश में पार्श्व एक नवीन संस्कृति की आधार शिला रख रहे थे।'

श्री पार्श्वनाथ का धर्म सर्वथा व्यवहार्य था। हिंसा असत्य स्तेय और परिग्रह त्याग करना यह चातुर्याम संवर वाद उनका धर्म था। इसका उन्होंने भारत में प्रचार किया। इतने प्राचीन काल में अहिंसा को इतना सुव्यवस्थित रूप देने का यह प्रथम ऐतिहासिक उदाहरण है।'

"श्री पार्श्व मुनि ने सत्य अस्तेय और अपरिग्रह—इन तीन नियमों के साथ अहिंसा का मेल बिठाया। पहले अरण्य में रहने वाले ऋषि मुनियों के आचरण में जो अहिंसा थी उसे व्यवहार में स्थान न था परन्तु उक्त तीन नियमों के सहयोग से अहिंसा सामाजिक बनी व्यावहारिक बनी।

श्री पार्श्वमुनि ने अपने नये धर्म के प्रचार के लिए संघ बनाया। बौद्ध साहित्य से ऐसा मालूम होता है कि बुद्ध के काल में जो संघ अस्तित्व में थे उनमें जैन साधु तथा साध्वियों का संघ सबसे बड़ा था।"

: ७ :

भगवान् महावीर

आइए जरा अपनी स्मृति को पुराने भारत में लेचलें।

कितने पुराने भारत में ?

यही करीब पचीस शताब्दी पुराने मे।

बहुत अच्छा।

अरे रे यह क्या हो रहा है। लाखों मूक पशुओं की लाशें यज्ञ की वलिवेदी पर तड़प रही हैं। भोले भाले मानव शिशु और पकी आयु के वृद्ध भी देव पूजा के वहम में मौत के घाट उतारे जारहे हैं। शूद्र भी तो मनुष्य हैं। इन्हें क्यों मनुष्यता के सर्व सामान्य अधिकारों से भी वंचित कर दिया गया है। मातृ जाति का इतना भयकर अपमान। सामाजिक क्षेत्र में रातदिन की दासता के सिवा और कोई काम ही नहीं। प्रत्येक नदी नाला, प्रत्येक ईंट पत्थर, प्रत्येक झाड़ झखाड़ देवता बना हुआ है। और मूर्ख मानवसमाज अपने महान् व्यक्तित्व को भुलाकर इनके आगे दीन भाव से अपना उन्नत मस्तक रगड़ना फिर रहा है। आध्यात्मिक और सांस्कृतिक पतन का इतना भयकर दृश्य ! हृदय काँप रहा है !

जी हाँ, यह ऐसा ही दृश्य है। आप देख नहीं रहे हैं, यह आज से पचीस शताब्दी पुराना भारत है और ये सब लोग उस पुराने भारत के निवासी हैं। आज भी इनके जीवन की झाकी पुराण और वेदों के पृष्ठों पर अंकित हैं।

क्या इस युग में भारत का कोई उद्धार कर्ता न हुआ? क्या कोई इन धर्मान्ध लोगों को समझाने बुझाने वाला न मिला? अन्ध विश्वास की इस प्रगाढ़ अन्धकार पूर्ण कालरात्रि में ज्ञान सूर्य का उज्ज्वल आलोक

देखने वाला क्या कोई महा पुरुष अवतरित न हुआ ?

अवश्य हुआ है।

कौन ?

भगवान् महावीर।

यह प्रकृति का अटल नियम है कि जब अत्याचार अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है अधर्म धर्म का जामा पहन कर जनता को भ्रम जाल में फांस लेता है, तब कोई न कोई महा पुरुष समाज राष्ट्र एवं विश्व का उद्धार करने के लिए जन्म लेता ही है। भारत वर्ष की तत्कालीन दयनीय दशा भी किसी महा पुरुष के अवतरण की प्रतीक्षा कर रही थी। अतः भगवान महावीर की आत्मा ने भारत के उद्धार के लिये मगध प्रदेश वर्ती वैशाली नगरी (कुण्डन पुर) के राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला के यहां जन्म ग्रहण किया। भारत के इतिहास में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी का वह पवित्र दिन है जो लाखों वर्षों तक अमर अमर बना रहेगा। भगवान् महावीर के जन्म दिन बनने का सौभाग्य इसी पवित्र दिन को प्राप्त हुआ है।

महावीर राजकुमार थे। सब प्रकार का सांसारिक सुख वैभव चारों ओर बिखरा पड़ा था। विवाह हो चुका था अपने समय की अनुपम सुन्दरी राजकुमारी यशोदा धर्म-पत्नी के रूप में प्रेम पुजारिन बनी हुई थी। दुःख क्या होता है ? कुछ भी पता न था। सब सुख था। परन्तु महावीर का हृदय फिर भी कुछ अनमना सा उदास सा रहता था। भारत का धार्मिक तथा सामाजिक पतन उन्हें बेचैन किए हुए था। क्रान्ति की प्रचण्ड ज्वाला अन्दर ही अन्दर धधक रही थी। हृदय मन्थन होता रहा। दो वर्ष तक गृहस्थ जीवन में ही तपस्वियों जैसा आत्मसाधना का क्रिया कलाप चलता रहा। अन्ततोगत्वा तीस वर्ष की भरी जवानी में मार्ग शिर कृष्णा दशमी के दिन [illegible] की विशाल साम्राज्य लक्ष्मी को ठुकरा कर पूर्ण अकिंचन भिक्षु के रूप में निर्जन वन की ओर चल पड़े।

भगवान महावीर ने भिक्षु होते ही उपदेश की वाग्धारा क्यो न बहाई ? बात यह है कि महावीर आज कल के साधारण सुधारकों जैसी मनोवृत्ति न रखते थे कि जो कुछ मन में आए, झट पट कह डालो, करने धरने को कुछ नहीं। उन की तो यह अमर धारणा थी कि "जब तक नेता अपने जीवन को न सुधार ले, अपनी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त न करले, तब तक वह प्रचार क्षेत्र म कभी भी सफलता नहीं प्राप्त कर सकता ।" महावीर इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए बारह वर्ष तक कठोर तप साधना करते रहे। मानव समाज से प्राय अलग थलग जगलो म पर्वतों की गुफाओं में रह कर आत्मा की अनन्त प्रसुप्त आध्यात्मिक शक्तियो को जगाना ही उन दिनो उनका एक मात्र कार्य था। एक से एक मनो मोहक प्रलोभन आखो के सामने से गुजरे, एक से एक भयङ्कर आपत्तियों ने चारों ओर चक्कर काटा, परन्तु भगवान् हिमालय की भाति सर्वथा अचल और अडग रहे। आज जिन घटनाओं के पढने मात्र से हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं, वे प्रत्यक्ष रूप म जिस जीवन पर से प्रसारित हुई होगी, वह कितना महान् होगा, हमारी कल्पना कुण्ठित हो जाती है।

अहिंसा और सत्य की पूर्ण साधना के बल से जीवन की समस्त कालिमा धुल चुकी थी, पवित्रता और स्वच्छता की अखिल रेखाएँ प्रस्फुटित हो चुकी थी, आत्मा की अनन्त ज्ञान ज्योति जगमगा उठी था, अत वैशाख शुक्ला दशमी के दिन भगवान महावीर केवल ज्ञान और केवल दर्शन का अखण्ड प्रकाश प्राप्त कर तीर्थंकर पद के अधिकारी हुए। जैन धर्म की मान्यता के अनुसार कोई भी मनुष्य जन्म से भगवान् नहीं होता। भगवत्पद की प्राप्ति के लिए विकट साधनाओं के पथ पर से चलना होता है, जीवन के चारों ओर सदाचार के कठोर नियमों का अभेद्य प्राकार खड़ा करना होता है, तब कहीं मनुष्य भगवत्पद का अधिकारी होता है। भगवान् महावीर का जीवन हमारे समक्ष आध्यात्मिक विकास का यह बहुत बड़ा आदर्श उपस्थित करता है।

भगवान महावीर को ज्योंही केवल ज्ञान की प्राप्ति के दर्शन हुए त्योंही वे अपने एकान्त जीवन को वनों में से खींचकर मानव-समाज में ले आए। मानव समाज में आकर आपने मानव जगत की दलित मानवता को विकसित करने का प्रबल आन्दोलन चालू किया। तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक भ्रान्त रूढ़ियों के प्रति वह सबल आक्रमण किया कि अन्ध विश्वासों के सुदृढ़ दुर्ग दह दह कर भूमिसात् होने लगे। भारत में चारों ओर शान्ति का ज्वालामुखी फट पड़ा। धर्म गुरुओं के दाम्भिकता पर चिर—प्रतिष्ठित स्वर्ण सिंहासन हिल उठे। आप का विरोध भी बड़े जोरों से चला। प्राचीनता के पुजारियों ने प्रचलित परम्पराओं की रक्षा के लिए भी तोड़ प्रयत्न किए, मनमाने आक्षेप भी किए, परन्तु महापुरुष आपत्तियों की बाधाओं से कब रुका करते हैं? वे तो अपने निश्चित ध्येय पर प्रतिपल आगे ही आगे बढ़ते रहते हैं, और अन्त में सफलता के सिंहद्वार पर पहुँच कर ही विश्राम लेते हैं।

भगवान् महावीर के आचरणमूलक धर्मोपदेश ने भारत की काया पलट कर दी। वेद मूलक हिंसक विधि विधानों में लगे हुए बड़े २ दिग्गज विद्वान् भी भगवान् के चरणों के पुजारी बन गए। इन्द्रभूति गौतम जो अपने समय के एक धुरन्धर दार्शनिक, साथ ही साथ क्रिया काण्डी ब्राह्मण माने जाते थे पावापुर में विशाल यज्ञ की आयोजना कर रहे थे। भगवान् की पहली भेंट इन्हीं के साथ हुई। गौतम पर भगवान् के अप्रतिम ज्ञान-प्रकाश का एवं अलौकिक तपस्तेज का वह विलक्षण प्रभाव पड़ा कि गौतम सदा के लिए यज्ञ वाद का पथ त्याग कर भगवान् के चरणों में दीक्षित हो गये। इनके साथ ही चार हजार चार सौ (४४) अन्य ब्राह्मण विद्वानों ने भी भगवान् के पास मुनि-दीक्षा ली। भगवान् के अहिंसा धर्म की यह पहली विजय थी, जिसने भारत की चिर निद्रित आँखें खोल दीं। उक्त घटना के बाद भगवान् जहाँ भी पधारे धर्म पिपासु जनता समुद्र की भाँति भगवान् की ओर उमड़ती चली गई।

भोग-विलास में सर्वदा बेभान रहने वाले धनी नौजवानों पर भी

भगवान् के अपूर्व वैराग्य का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। बड़े-बड़े राजा महाराजाओं के, सेठ साहूकारों के सुकुमार पुत्र भिक्षु का बाना पहने हुए, तप और त्याग की साक्षात् जीती जागती मूर्त्ति बने हुए, गांव गांव में अहिंसा धर्म की दुन्दुभि बजाते घूम गए। मगध सम्राट् श्रेणिक की उन महारानियों को, जो कभी पुष्प शैय्या से नीचे पैर तक न रखती थीं, जब हम भिक्षुणियों के रूप में घर घर भिक्षा मागते हुए-धर्म शिक्षा देते हुए कल्पना के चित्र पट पर लाते हैं, तो हमारा हृदय सहसा हर्ष-गद्-गद् हो उठता है। राजगृही के धन्ना और शालीभद्र जैसे धन-कुवेरों के जीवन परिवर्तन की कथाए कट्टर से कट्टर भोगवादी के हृदय को भी आनन्द विभोर कर देने वाली हैं।

भगवान् महावीर मातृजाति के प्रति बड़े उदार विचार रखते थे। उनका कहना था कि-'पुरुष के समान ही स्त्री को भी प्रत्येक धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में बराबर का अधिकार है। स्त्री जाति को हीन एव पतित समझना निरी भ्रान्ति है।' अतएव भगवान् ने भिक्षु-सघ के समान ही भिक्षुणियों का भी एक सघ बनाया, जिसकी अधिनेत्री चन्दन बाला थी, जो अपने सघ की सब प्रकार की देख रेख स्वतत्र रूप से किया करती थी। भगवान् बुद्ध ने भी भिक्षुणी सघ की स्थापना की थी, परन्तु वह स्वय नही, आनन्द के अत्याग्रह से गौतमी पर दया लाकर! उनका अपना विचार इस सम्बन्ध में कुछ और था। भगवान् महावीर के सघ में जहा भिक्षुओं की सख्या १४ हजार थी, वहा भिक्षुणियों की संख्या ३६ हजार थी। श्रावकों की सख्या १ लाख ५० हजार थी, तो श्राविकाओं की सख्या ३ लाख कुछ हजार थी। स्त्री जाति के प्रति भगवान् के धर्म प्रवचन में कितना महान् आकर्षण था, इसकी एक निर्णयात्मक कल्पना ऊपर की सख्याओं पर से की जा सकती है।

तत्कालीन शूद्र जातियों को भी भगवान् के द्वारा बड़ा सहारा प्राप्त हुआ। भगवान् जहा भी गए वहा सर्व प्रथम एक ही सन्देश ले कर गए कि मनुष्य जाति एक है, उसमें जात पात की दृष्टि से विभाग की कल्पना

मानना किसी प्रकार भी उचित नहीं । ऊँच नीच के सम्बन्ध में भगवान् के विचार कर्म मूलक थे, जाति मूलक नहीं । भगवान् आजकल के उपदेशकों के समान मात्र उपदेश देकर ही रह गए हों, यह बात नहीं । हरिकेशी जैसे चाण्डालों को अपने भिक्षु संघ में सम्मानपूर्ण अधिकार देकर उन्होंने जो कुछ कहा था करके भी दिखा दिया । आगम साहित्य में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता कि भगवान् किसी राजा महाराजा अथवा श्रीमन्त वणिक् के महलों में विराजे हों । हां, पोलासपुर में सद्दाल कुम्हार के यहां विराजना उनकी पतित-बन्धुता का वह ज्वलन्त आदर्श है जो कोटि कोटि वर्षों तक अमर अमर रहकर संसार को समभाव का पाठ पढ़ाता रहेगा ।

भगवान के जीवन के सम्बन्ध में क्या कुछ कहा जाय? उनका जीवन एकमुखी नहीं सर्वतोमुखी था । हम उन्हें किसी एक ही दिशा में बन्धे नहीं पाते प्रत्युत जिस क्षेत्र में भी देखते हैं वह उससे आगे और आगे दिखलाई देते हैं । आगम साहित्य तथा तत्कालीन अन्य साहित्य पर दृष्टिपात कर जाइये । आप भगवान् महावीर को कहीं विलासी राजाओं को अत्याचार से हटाते पायेंगे तो कहीं दीन दरिद्र गृहस्थों को पापाचार से बचाते पायेंगे । कहीं भिक्षुओं के लिए वैराग्य का समुद्र बहाते पायेंगे तो कहीं गृहस्थों के लिए नीति मूलक विचार देते पायेंगे । कहीं प्रौढ़ विद्वानों के साथ गम्भीर तत्त्वचर्चा करते पायेंगे तो कहीं साधारण जिज्ञासुओं को कथाओं के रूप में साधारण धर्म प्रवचन सुनाते पायेंगे । कहीं गणधर गौतम जैसे प्रिय शिष्यों पर प्रेम की अमृत वर्षा करते पायेंगे तो कहीं उन्हीं को गलती कर देने के अपराध में फटकार बताते पायेंगे । बात यह है कि भगवान् को जहां भी कहीं जिस किसी भी रूप में पाते हैं अलौकिक एवं अद्भुत रूप में पाते हैं ।

लेख लम्बा हो चुका है, फिर भी मैं कुछ लिख नहीं पाया हूँ । जो लिखना हुआ है, लिखने में नहीं आ पाता है । लिखे भी कैसे? भगवान के महान् जीवन की प्यारी घटनामाला के सीमित प्रकरणों में नहीं दिखलाई पड़

सकती। भगवान महावीर का जीवन न कभी पूरा लिखा गया है और न कभी लिखा जा सकेगा। अनन्त आकाश के गर्भ में असख्य विहगम उड़ानें भर चुके हैं, पर आकाश की इयत्ता का पता किसे है? अत यह प्रयास मात्र भगवान के चरणो मे श्रद्धाञ्जलि अर्पण करने का है, जीवन लिखने का नही। जो कुछ श्रद्धा भरे हृदय से लिखा है, हमारे पामर जीवन को सुगधित बनाने के लिए बहुत पर्याप्त है।

: ८ :

जैन तीर्थंकर

तीर्थंकर कौन होते हैं?

'तीर्थंकर' जैन साहित्य का एक मुख्य पारिभाषिक शब्द है। यह शब्द कितना पुराना है, इस के लिए इतिहास के फेर में पड़ने की ज़रूरत नहीं। आजकल का लिखित से लिखित इतिहास भी इस का प्रारंभ काल पा सकने में असमर्थ है। और एक प्रकार से तो यह कहना चाहिए कि यह शब्द उपलब्ध इतिहास सामग्री से है भी बहुत दूर परे की चीज़।

जैन धर्म के साथ उक्त शब्द का अभिन्न सम्बन्ध है। दोनों को दो अलग अलग स्थानों में विभक्त करना मानो दोनों के वास्तविक स्वरूप को ही विकृत कर देना है। जैनों की देखा देखी यह शब्द अन्य पन्थों में भी कुछ कुछ प्राचीन काल में व्यवहृत हुआ है; परन्तु वह सब नहीं के बराबर है। जैनों की तरह उन के यहाँ यह एक मात्र रूढ़ एवं उनका अपना निजी शब्द बन कर नहीं रह सका।

हाँ तो जैन धर्म में यह शब्द किस अर्थ में व्यवहृत हुआ है और इस का क्या महत्व है यह देख लेने की बात है। तीर्थ कर का शाब्दिक अर्थ होता है—तीर्थ का कर्ता–निर्माता–बनाने वाला। 'तीर्थ' शब्द का जैन परिभाषा के अनुसार मुख्य अर्थ है —धर्म। संसार समुद्र से आत्मा को तारने वाला एक मात्र अहिंसा एवं सत्य आदि धर्म ही है अतः धर्म को तीर्थ कहना शब्द शास्त्र की दृष्टि से भी उपयुक्त ही है। तीर्थंकर अपने समय में संसार सागर से पार करने वाले धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं, उद्धार करते हैं, अतः वे तीर्थंकर कहलाते हैं। धर्म के आचरण करने वाले साधु साध्वी, श्रावक—गृहस्थ पुरुष और श्राविका—गृहस्थ

देखो बौद्ध साहित्य का लंकावतार सूत्र।

स्त्री रूप चतुर्विध सघ को भी गौण दृष्टि से तीर्थ कहा जाता है। अतः चतुर्विध धर्म सघ की स्थापना करने वाले महापुरुषों को तीर्थंकर कहते हैं।

जैन-धर्म की मान्यता है कि- जब जब ससार में अत्याचार का राज्य होता है, प्रजा दुराचारों से उत्पीडित हो जाती है, लोगों में दैवी धार्मिक भावना क्षीण हो कर आसुरी पाप भावना जोर पकड़ लेती है, तब तब ससार में तीर्थ करों का अवतार होता है। और वे ससार की मोह माया का परित्याग कर, त्याग और वैराग्य की अखड धूनी रमा कर, अनेकानेक भयकर कष्ट उठा कर पहले स्वय सत्य की पूर्ण ज्योति का दर्शन करते हैं—जैन परिभाषा के अनुसार केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं, और फिर मानव ससार को धर्मोपदेश दे कर असत्य प्रपच के चगुल से छुड़ाते हैं, सत्य के पथ पर लगाते हैं, और ससार मे पूर्ण सुख शान्ति का साम्राज्य स्थापित करते हैं। तीर्थ करो के शासन काल में प्राय प्रत्येक भव्य स्त्री पुरुष अपने आप को पहचान लेता है, और 'स्वय सुख पूर्वक जीना, दूसरों को सुख पूर्वक जीने देना, तथा दूसरों को सुख पूर्वक जीते रहने के लिए अपने सुखों की कुछ भी परवाह न कर के अधिक से अधिक सहायता देना'—उक्त महान सिद्धान्त को अपने जीवन मे उतार लेता है। अस्तु, तीर्थंकर वह, जो ससार को सच्चे धर्म का उपदेश देता है, ससार को उस के नाश करने वाली बुराइयों से बचाता है, ससार को भौतिक सुखों की लालसा से हटा कर अध्यात्म सुखों का प्रेमी बनाता है, और बनाता है नरक स्वरूप उन्मत्त एव विक्षिप्त ससार को सत्य शिव सुन्दर का स्वर्ग।

तीर्थंकर के लिए लोक-भाषा में यदि कुछ कहना चाहें तो उन्हें पूर्ण उत्कृष्ट अध्यात्म-योगी कह सकते हैं। तीर्थंकरों की आत्मा पूर्ण विकसित होती है, फलत उन में अनन्त आध्यात्मिक शक्तियाँ पूर्णतया प्रगट हो जाती हैं। उन्हें न किसी से राग होता है और न किसी से द्वेष। अखिल संसार को वे मित्रता की सुधा सिक्त दृष्टि से निहारते हैं, और तुच्छ वनस्पति आदि स्थावर जीवों से लेकर समस्त जगम प्राणि-

प्राण के प्रति समता ममता का भाव रखते हैं। यही कारण है कि उनके समवशरण में सर्प और नकुल, चूहा और बिलाव, गाय और व्याघ्र आदि जन्म जात शत्रु प्राणी भी द्वेष भाव को छोड़ कर बड़े प्रेम भरे भ्रातृ भाव के साथ पूर्ण शान्त अवस्था में रहते हैं। द्वेष और क्रोध क्या क्षीण होते हैं, इसका उनके हृदय में भान ही नहीं रहता। क्या मनुष्य क्या पशु सभी पर सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य छाया रहता है। उनकी ज्ञान शक्ति अनन्त होती है। समस्त चराचर विश्व का उन्हें हस्तामलक के समान पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। विश्व का कोई भी रहस्य ऐसा नहीं रहता जो कि उन के ज्ञान में न देखा जाता हो।

जैन धर्म में मानव जीवन की दुर्बलता के अर्थात् मनुष्य की अपूर्णता के सूचक अठारह दोष माने गए हैं।

१—मिथ्यात्व=असत्य विश्वास २—अज्ञान ३—क्रोध ४—मान ५—माया=कपट ६ लोभ ७—रति=सुन्दर वस्तु के मिलने पर हर्ष ८ अरति=असुन्दर वस्तु के मिलने पर खेद ९—निद्रा १०—शोक ११ अलीक=झूठ १२—चौर्य=चोरी १३—मत्सर=डाह १४—भय १५—हिंसा १६—राग=आसक्ति १७—क्रीड़ा=खेल तमाशा नाच रंग, १८—हास्य=हँसी मजाक। [कुछ ग्रन्थों में अठारह दोष दूसरे रूप में भी माने गए हैं।]

जब तक मनुष्य इन अठारह दोषों से सर्वथा मुक्त नहीं होता तब तक वह आध्यात्मिक शुद्धि के पूर्ण विकास के पद पर नहीं पहुँच सकता। ज्यों ही वह अठारह दोषों से मुक्त होता है, त्यों ही आत्म शुद्धि के महान् ऊँचे शिखर पर पहुँच जाता है और केवल ज्ञान केवल दर्शन के द्वारा समस्त विश्व का ज्ञाता द्रष्टा बन जाता है। तीर्थंकर भगवान् भी अठारह दोषों से सर्वथा रहित होते हैं। एक भी दोष अणुमात्र अंश में भी उनमें नहीं होता।

तीर्थंकर ईश्वरीय अवतार नहीं हैं

आज संसार में जैन तीर्थंकरों के प्रति बहुत कुछ भ्रान्त धारणाएँ

रखता है। खेद है कि इतिहास-सम्बन्ध लाखों वर्षों से अजैन-संसार का जैन संसार के साथ निकट सम्बन्ध चला आ रहा है, फिर भी उसने निष्पक्षपात दृष्टि से कभी सत्य को परखने की चेष्टा न की।

कुछ लोग कहते हैं कि—जैनी अपने तीर्थंकरों को ईश्वर का अवतार मानते हैं। मैं उन बन्धुओं से कहूँगा कि वे भूल में हैं। जैन धर्म ईश्वरवादी नहीं है। वह किसी एक संसार का कर्ता धर्ता, संहर्ता ईश्वर को नहीं मानता। उसकी यह मान्यता नहीं है कि हजार भुजाओं वाला, दुष्टों का नाश करने वाला, भक्तों का पालन करने वाला सर्वथा परोक्ष, कोई एक ईश्वर है, और वह यथा समय त्रस्त संसार पर दया भाव लाकर गो-लोक, सत्य-लोक या वैकुंठ धाम आदि से दौड़ा हुआ संसार में आता है, किसी के यहाँ जन्म लेता है, और फिर लीला दिखा कर वापिस लौट जाता है। अथवा जहाँ कहीं है, वहीं बैठा हुआ ही संसार-घटिका की सूई फेर देता है और मन चाहा सो बजा देता है, अर्थात् कर दिखाता है।

जैन धर्म में मनुष्य से बढ कर और कोई दूसरा वन्दनीय प्राणी नहीं है। जैन-शास्त्रों में आप जहाँ कहीं भी देखेंगे, मनुष्यों को सम्बोधन करते हुए 'देवाणुप्पिय' शब्द का प्रयोग हुआ पायेंगे। उक्त सम्बोधन का यह भावार्थ है कि 'देव-संसार भी मनुष्य के आगे तुच्छ है। वह भी मनुष्य के प्रति प्रेम, श्रद्धा एव आदर का भाव रखता है। मनुष्य अगाध अनन्त शक्तियों का प्रभवस्थान है। वह दूसरे शब्दों में स्वयसिद्ध ईश्वर है, परन्तु संसार की मोहमाया के कारण कर्म मल से आच्छादित है, अत बादलों से ढका हुआ सूर्य है, कुछ भी प्रकाश नहीं फेंक सकता।

परन्तु ज्यों ही वह अपने होश में आता है, अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानता है, दुर्गुणों को त्याग कर सद्गुणों को अपनाता है, तो धीरे धीरे निर्मल शुद्ध एव स्वच्छ होता चला जाता है, और एक दिन जगमगाती हुई शक्तियों का पुंज बन कर मानवता के पूर्ण विकास की

कोटि पर पहुँच कर सदा, सर्वदर्शी ईश्वर परमात्मा शुद्ध बुद्ध बन जाता है। तदनन्तर जीवन्मुक्त दशा में संसार को सत्य का प्रकाश देता है और अन्त में निर्वाण पाकर मोक्ष-दशा में सदा काल के लिए अजर, अमर, अविनाशी – जैन परिभाषा में सिद्ध हो जाता है।

अस्तु, तीर्थ कर भी मनुष्य ही होते हैं। वे कोई अलौकिक दैवी शक्ति के प्राणी ईश्वर के अवतार या ईश्वर के अंश अंश कुछ नहीं होते। एक दिन वे भी हमारी तुम्हारी तरह ही वासनाओं के गुलाम थे पापमल से लिप्त थे संसार के दुःख शोक आदि व्याधि से संत्रस्त थे। सत्य क्या है, असत्य क्या है—यह उन्हें कुछ भी पता नहीं था। इन्द्रिय सुख ही एकमात्र ध्येय था, और उसी कल्पना के पीछे अनादि काल से नाना प्रकार के क्लेश उठाते जन्म मरण के प्रवाह में चक्कर लगाते घूम रहे थे। परन्तु अपूर्व पुण्योदय से सत्पुरुषों का संग मिला, चैतन्य और जड़ का भेद समझा भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख का महान् अन्तर ध्यान में आया फलतः सत्पथ संसार की वासनाओं से मुँह मोड़ कर सत्य पथ के पथिक बन गए आत्म-संयम की साधना में लगातार अनेक जन्म बिताए और अन्त में एक दिन वह मनुष्य-भव प्राप्त किया कि उस में महान् तीर्थ कर के रूप में प्रकट हो गए। उस जन्म में भी यह नहीं कि किसी राजा महाराजा के यहाँ जन्म लिया और वयस्क होने पर भोग-विलास करते हुए ही तीर्थ कर हो गए। उन्हें राज्य वैभव छोड़ना होता है, पूर्ण अहिंसा पूर्ण सत्य पूर्ण अस्तेय पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण सन्तोष की साधना में दिन-रात जुटा रहना होता है। पूर्ण त्यागी साधु बन कर एकान्त निर्जन स्थानों में आत्म मनन करना होता है अनेक प्रकार के आधिभौतिक आधिदैविक एवं आध्यात्मिक दुःखों को पूर्ण शान्ति के साथ सहन कर अपकारी जन पर भी अन्तर्हृदय से दया मृत का शीतल झरना बहाना होता है तब कहीं पापमल से मुक्ति होने पर केवल-ज्ञान और केवल दर्शन की प्राप्ति के द्वारा तीर्थ कर पद प्राप्त होता है।

तीर्थंकरों का पुनरागमन नहीं

मैं एक जैन भिक्षु हूँ और प्राय सब ओर भ्रमण कर उपदेश देना मेरा कर्तव्य है। अस्तु, बहुत से स्थानों में अजैन बन्धुओं द्वारा यह शका उठाई गई है कि जैनों में २४ ईश्वर या देव हैं, जो प्रत्येक काल-चक्र में बारी-बारी से जन्म लेते हैं और धर्मोपदेश दे कर पुन अन्तर्धान हो जाते हैं।' इस शका का समाधान कुछ तो पहले ही कर दिया गया है। फिर भी स्पष्ट शब्दों में यह बात बतला देना चाहता हूँ कि—जैन धर्म में ऐसा अवतारवाद नहीं माना गया है। अव्वल तो अवतार शब्द ही जैन-परिभाषा का नहीं है। यह एक वैदिक परपरा का शब्द है, जो उसकी मान्यता के अनुसार विष्णु के बार-बार जन्म लेने के रूप में राम, कृष्ण आदि सत्पुरुषों के लिए आया है। आगे चल कर यह मात्र महापुरुष का द्योतक रह गया और इसी कारण आजकल के जैन बन्धु भी किसी के पूछने पर झटपट अपने यहाँ २४ अवतार बता देते हैं एव तीर्थ करों को अवतार कह देते हैं। परन्तु इस के पीछे किसी एक व्यक्ति द्वारा बार-बार जन्म लेने की भ्रान्ति भी चली आई है, जिस को लेकर अबोध जनता में यह विश्वास फैल गया कि-२४ तीर्थ कर बँधे हुए हैं और वे ही बार बार जन्म लेते हैं, ससार का उद्धार करते हैं, और फिर अपने स्थान में जा विराजते हैं।

जैन धर्म मे मोक्ष में जाने के बाद ससार में पुनरागमन नही माना जाता। विश्व का प्रत्येक नियम कार्य-कारण के रूप में सम्बद्ध है। बिना कारण के कभी कार्य नहीं हो सकता। बीज होगा, तभी अकुर हो सकता है, धागा होगा, तभी वस्त्र हो सकता। अस्तु आवागमन का, जन्म-मरण पाने का कारण कर्म है, और वे मोक्ष अवस्था में रहते नहीं। अत कोई भी विचारशील सज्जन समझ सकता है कि—जो आत्मा कर्म मल से मुक्त हो कर मोक्ष पा चुका, वह फिर ससार में कैसे आ सकता है? बीज तभी तक उत्पन्न हो सकता है, जब तक कि वह भुना नहीं है, निर्जीव नहीं हुआ है। जब बीज एक बार भुन गया, तो फिर कभी

तीन काल में भी उत्पन्न नहीं हो सकता। जन्म-मरण के अंकुर का बीज कर्म है, उसे सम्यग्दर्शन आदि धर्म-क्रियाओं से जला दिया, तो फिर सदा काल के लिए अजर अमर। एक प्राचीन जैन आचार्य ने इस सम्बन्ध में क्या ही अच्छा कहा है —

> दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं,
> प्रादुर्भवति नांकुरः।
> कर्म-बीजे तथा दग्धे
> न रोहति भवांकुरः॥

बहुत दूर चला आया हूँ; परन्तु विषय को स्पष्ट करने के लिए इतना विस्तार के साथ लिखना आवश्यक भी था। अब आप इस पर से समझ गए होंगे कि जैन तीर्थंकर मुक्त हो जाते हैं, फलतः वे संसार में दुबारा नहीं आते। अस्तु प्रत्येक काल-चक्र में जो २४ तीर्थंकर होते हैं वे सब पृथक्-पृथक् आत्मा होते हैं, एक नहीं।

तीर्थंकरों व अन्य मुक्त पुरुषों में अन्तर

अब एक और गंभीर प्रश्न है, जो प्रायः हमारे सामने आया करता है। कुछ लोग कहते हैं कि — जैनी अपने २४ तीर्थंकरों को ही मुक्त होना मानते हैं, और कोई इन के यहाँ मुक्त नहीं होते। यह बिल्कुल ही भ्रान्त धारणा है; इसमें सत्य का अणुमात्र भी अंश नहीं है।

तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य आत्माएँ भी मुक्त होती हैं। जैन-धर्म किसी एक व्यक्ति, जाति या समाज के पीछे ही मुक्ति का ठेका नहीं रखता। उसकी उदार दृष्टि में तो हर कोई मनुष्य — चाहे वह किसी भी देश, जाति, समाज या धर्म का हो, जो अपने आप को बुराइयों से बचाता है, आत्मा को अहिंसा, क्षमा, सत्य, शील आदि सद्गुणों से पवित्र बनाता है, वह मुक्त हो सकता है।

तीर्थंकरों में और अन्य मुक्त होने वाले महापुरुषों में आन्तरिक शक्तियों की बाबत कोई भेद नहीं है। केवल ज्ञान, केवल दर्शन आदि आत्मिक

शक्तियाँ सभी मुक्त होने वालों मे एक-सी होती हैं। जो कुछ भेद है, वह धर्म प्रचार की मौलिक दृष्टि का और अन्य योग सम्बन्धी अद्‌भुत शक्तियों का। तीर्थंकर महान् धर्म प्रचारक होते हैं, वे अपने अद्वितीय प्रचण्ड तेजोबल से पाखण्ड का अन्धकार छिन्न भिन्न कर देते हैं, एव एक प्रकार से जीर्ण-शीर्ण सड़े-गले मानव-ससार का कायाकल्प कर डालते हैं। उन की योग-सम्बन्धी शक्तियाँ अर्थात् सिद्धियाँ भी बड़ी ही अद्‌भुत होती हैं। उनके शरीर मे से सुगन्ध आया करती है, मल का जमाव नही होता, आकाश मे धर्म-चक्र घूमा करता है। उनके प्रभाव से रोग-ग्रस्त प्राणियों के रोग भी दूर हो जाते हैं। उन की भाषा मे वह चमत्कार होता है कि–क्या मनुष्य, क्या पशु, सभी उनकी मधुर वाणी का भावार्थ समझ लेते हैं। इत्यादि अनेक लोकोपकारी सिद्धियों के स्वामी तीर्थंकर होते हैं, जब कि दूसरे मुक्त होने वाले पुरुष ऐसे नही होते। अर्थात् न तो वे तीर्थंकर जैसे महान् धर्म-प्रचारक ही होते हैं, और न योग-सिद्धियों के इतने विशाल स्वामी ही। साधारण मुक्त पुरुष अपना लक्ष्य अवश्य प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु जनता पर अपना चिरस्थायी एव अक्षुण्ण प्रभुत्व नही बैठा पाते। यही भेद है, जो तीर्थंकर और अन्य मुक्त पुरुषों मे अन्तर डालता है।

प्रस्तुत विषय के साथ लगती हुई यह बात भी स्पष्ट किये देता हूँ कि यह भेद मात्र जीवन्मुक्त दशा में अर्थात् देहधारी अवस्था में ही है। मोक्ष मे पहुँच जाने के बाद कोई भी भेद भाव नहीं रहता। वहाँ तीर्थंकर और अन्य मुक्त पुरुष सभी एक ही स्वरूप में रहते हैं। क्या कि जब तक जीवात्मा जीवन्मुक्त दशा में रहता है, तब तक तो प्रारब्ध कर्म भोगने बाकी रहते हैं, अत उनके कारण जीवन मे भेद रहता है। परन्तु देह-मुक्त दशा में, मोक्ष मे तो कोई भी कर्म अवशिष्ट नही रहता, फलत तन्मूलक भेद-भाव भी कुछ नही रहता।

६

चौबीस तीर्थंकर

आध्यात्मिक विकास के ऊँचे शिखर पर पहुँचने वाले महापुरुषों को जैन-धर्म में तीर्थंकर कहा जाता है। तीर्थंकर देव राग द्वेष भय आश्चर्य क्रोध मान, माया लोभ मोह चिन्ता आदि विकारों से सर्वथा रहित होते हैं। केवल ज्ञान और केवल दर्शन के द्वारा तीन लोक और तीन काल की सब बातें जानते देखते हैं। स्वर्गलोक के देवता भी उनके चरण कमलों में श्रद्धा भक्ति के साथ वंदना करते हैं। जहाँ विराजते हैं, आकाश में देवता दुन्दुभी बजाते हैं और गन्धोदक की वर्षा करते हैं।

तीर्थंकरों का जीवन बहुत अद्भुत होता है। उनके समवसरण (धर्मसभा) में अहिंसा का अखण्ड राज्य होता है। सिंह और मृग आदि परस्पर विरोधी भी एक साथ प्रेम से बैठे रहते हैं। न सिंह में मारक वृत्ति रहती है और न मृग में भय वृत्ति। अहिंसा के देवता के सामने हिंसा का अस्तित्व भला कैसे रह सकता है?

ऊपर कुछ बातें असम्भव जैसी मालूम होती हैं; परन्तु आध्यात्मिक योग के सामने ये कुछ भी असम्भव नहीं हैं। आजकल भौतिक विद्या के चमत्कार ही कुछ कम आश्चर्य जनक नहीं हैं तब आध्यात्मिक विद्या के चमत्कारों का तो कहना ही क्या? आज के साधारण योगी भी कभी-कभी अपने चमत्कारों से मानव-बुद्धि को स्तम्भित कर देते हैं, तो फिर तीर्थंकर देव तो योगिराज हैं। उनके आध्यात्मिक वैभव की तुलना तो किसी से की ही नहीं जा सकती।

वर्तमान चालू काल-प्रवाह में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में चौबीस ही तीर्थंकरों का विस्तृत जीवन चरित दिया हुआ है।

परन्तु यहाँ विस्तार में न जा कर संक्षेप में ही चौवीस तीर्थंकरों का परिचय देना है।

(१) भगवान् ऋषभदेवजी पहले तीर्थंकर थे। आपका जन्म जुगलियों के युग में हुआ, जब मनुष्य वृक्षों के नीचे रहते थे और वनफल खा कर जीवन-यापन करते थे। आपके पिता का नाम नाभिराजा और माता का नाम मरुदेवी था। आपने युवावस्था में आर्य-सभ्यता की नींव डाली। पुरुषों को बहत्तर और स्त्रियों को चौसठ कलाएँ सिखाईं। आप विवाहित हुए। बाद में राज्य-त्याग कर दीक्षा ग्रहण की और कैवल्य पाया। आपका जन्म चैत्र कृष्णा अष्टमी को और निर्वाण=मोक्ष माघ कृष्णा त्रयोदशी को हुआ। आप की निर्वाण-भूमि कैलास पर्वत है। ऋग्वेद, विष्णु पुराण, अग्नि पुराण, भागवत आदि जैनेतर वैदिक साहित्य में भी आपका गुण कीर्तन किया गया है।

(२) भगवान् अजितनाथजी दूसरे तीर्थंकर थे। आपका जन्म अयोध्या नगरी के इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय सम्राट् जितशत्रु राजा के यहाँ हुआ। आपकी माता का नाम विजयादेवी था। भारतवर्ष के दूसरे चक्रवर्ती सगर आपके चचा सुमित्रविजय के पुत्र थे। आप का जन्म माघ शुक्ला अष्टमी को और निर्वाण चैत्र शुक्ला पंचमी को हुआ। आपकी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है, जो आज-कल बंगाल में पारसनाथ पहाड़ के नाम से प्रसिद्ध है।

(३) भगवान् संभवनाथजी तीसरे तीर्थंकर थे। आपका जन्म श्रावस्ती नगरी में हुआ। आपके पिता का नाम इक्ष्वाकुवंशीय महाराजा जितारि और माता का नाम सेना देवी था। आपने पूर्व जन्म में विपुलवाहन राजा के रूप में अकालग्रस्त प्रजा का पालन किया था और अपना सब कोष दीनों के हितार्थ लुटा दिया था। आपका जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला चतुर्दशी को और निर्वाण चैत्र शुक्ला पंचमी को हुआ। आप की निर्वाण-भूमि भी सम्मेतशिखर है।

(४) भगवान् अभिनन्दननाथजी चौथे तीर्थंकर थे। आपका जन्म

अयोध्या नगरी के इक्ष्वाकुवंशीय राजा संवर के यहाँ हुआ। आपकी माता का नाम सिद्धार्था था। आपका जन्म माघ शुक्ला द्वितीया और निर्वाण वैशाख शुक्ला अष्टमी को हुआ। आपकी निर्वाण-भूमि सम्मेद शिखर है।

(५) भगवान् सुमतिनाथ पाँचवे तीर्थंकर थे। आप का जन्म अयोध्या नगरी (कौशलपुरी) में हुआ। आपके पिता महाराजा मेघरथ और माता सुमंगलादेवी थी। आपका जन्म वैशाख शुक्ला अष्टमी को और निर्वाण चैत्र शुक्ला नवमी को हुआ। आपकी निर्वाण भूमि भी सम्मेदशिखर है। आप जब गर्भ में आये तब आप की माता की बुद्धि बहुत स्वच्छ और तीव्र हो गई थी, अतः आप का नाम सुमतिनाथ रक्खा गया।

(६) भगवान् पद्मप्रभ छठे तीर्थंकर थे। आपका जन्म कौशाम्बी नगरी के राजा श्रीधर के यहाँ हुआ। माता का नाम सुसीमा था। जन्म कार्तिक कृष्णा द्वादशी को और निर्वाण मार्गशिर कृष्णा एकादशी को हुआ। आप की निर्वाण भूमि भी सम्मेदशिखर है।

(७) भगवान् सुपार्श्वनाथ सातवें तीर्थंकर थे। आप की जन्म-भूमि काशी (बनारस) पिता प्रतिष्ठ महाराजा और माता पृथ्वी। आप का जन्म ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी को और निर्वाण भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेदशिखर है।

(८) भगवान् चन्द्रप्रभ आठवें तीर्थंकर थे। आप की जन्म-भूमि चन्द्रपुरी नगरी पिता महासेन राजा और माता लक्ष्मणा। आपका जन्म पौष शुक्ला द्वादशी को और निर्वाण भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेदशिखर।

(९) भगवान् सुविधिनाथ (पुष्पदन्त) नौवें तीर्थंकर थे। आपकी जन्म-भूमि काकन्दी नगरी पिता सुग्रीव राजा माता रामादेवी। आपका जन्म मार्गशीर्ष कृष्णा पंचमी को और निर्वाण भाद्रपद शुक्ला नवमी को हुआ। निर्वाण भूमि सम्मेदशिखर है।

(१०) भगवान् शीतलनाथजी दशवें तीर्थंकर थे। आप की जन्म-भूमि भद्दिलपुर नगरी। पिता दृढ़रथ राजा और माता नन्दारानी। जन्म माघ कृष्णा द्वादशी को और निर्वाण वैशाख कृष्णा द्वितीया को हुआ। निर्वाण भूमि सम्मेतशिखर।

(११) भगवान् श्रेयांसनाथजी ग्यारहवें तीर्थंकर थे। आपकी जन्म-भूमि सिंहपुर नगरी, पिता विष्णुसेन राजा और माता विष्णु देवी। आपका जन्म फाल्गुन कृष्णा द्वादशी को और निर्वाण श्रावण कृष्णा तृतीया को हुआ। निर्वाण भूमि सम्मेत शिखर। भगवान् महावीर ने पूर्व जन्मों मे त्रिपृष्ठ वासुदेव के रूप म भी श्रेयांसनाथजी के चरणों में उप-देश प्राप्त किया था।

(१२) भगवान् वासुपूज्यजी बारहवें तीर्थंकर थे। आप की जन्म-भूमि चंपा नगरी, पिता वसुपूज्य राजा और माता जयादेवी। आपका जन्म फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी का और निर्वाण आषाढ शुक्ला चतुर्दशी को हुआ। निर्वाण-भूमि चंपा नगरी। आप बाल ब्रह्मचारी रहे, विवाह नहीं कराया।

(१३) भगवान विमलनाथजी तेरहवें तीर्थंकर थे। आपकी जन्म-भूमि कम्पिलपुर नगरी, पिता कृतवर्म राजा और माता श्यामादेवी। जन्म माघ शुक्ला तृतीया को और निर्वाण आषाढ कृष्णा सप्तमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर।

(१४) भगवान् अनन्तनाथजी चौदहवें तीर्थंकर थे। आपकी जन्म-भूमि अयोध्या नगरी, पिता सिंहसेन राजा और माता सुयशा। जन्म वैशाख कृष्णा तृतीया को और निर्वाण चैत्र शुक्ला पचमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेत शिखर।

(१५) भगवान् धर्मनाथजी पंद्रहवें तीर्थंकर थे। आपकी जन्म-भूमि रत्नपुर नामक नगरी, पिता भानुराजा और माता सुव्रता। जन्म माघ शुक्ला तृतीया को और निर्वाण ज्येष्ठ शुक्ला पचमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर।

(१६) भगवान् शान्तिनाथजी सोलहवें तीर्थंकर थे। आपका जन्म हस्तिनापुर के राजा विश्वसेन की अचिरा रानी से हुआ। जन्म ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को और निर्वाण भी इसी तिथि को हुआ। निर्वाण भूमि सम्मेतशिखर। आप भारत के पंचम चक्रवर्ती राजा भी थे। आप के जन्म लेने पर देश में फैली हुई मृगी रोग की महामारी शान्त हो गई, इसलिए आपका नाम शान्तिनाथ रक्खा गया। आप बहुत ही दयालु प्रकृति के थे। पहले जन्म में आपने कबूतर की रक्षा के लिए बदले में *शिकारी को अपने शरीर का मांस काट कर दे दिया था।*

(१७) भगवान् कुन्थुनाथजी सत्रहवें तीर्थंकर थे। आपका जन्म-स्थान हस्तिनापुर, पिता सूरराजा माता श्रीदेवी। जन्म वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को और निर्वाण वैशाख कृष्णा प्रतिपदा (एकम) को हुआ। *निर्वाण भूमि सम्मेतशिखर। आप भारत के छठे चक्रवर्ती राजा भी थे।*

(१८) भगवान् अरनाथजी अठारहवें तीर्थंकर थे। आप का जन्म स्थान हस्तिनापुर, पिता सुदर्शन राजा, और माता श्रीदेवी। आपका जन्म मार्ग शीर्ष शुक्ला दशमी को और निर्वाण भी मार्ग शीर्ष (मंगसिर) *शुक्ला दशमी को ही हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर।* आप भारत के सातवें चक्रवर्ती राजा भी हुए।

(१९) भगवान् मल्लिनाथजी उन्नीसवें तीर्थंकर थे। आपका जन्म-स्थान मिथिला नगरी पिता कुम्भराजा और माता प्रभावतीदेवी। आप का जन्म *मार्ग शीर्ष शुक्ला एकादशी को सम्मेतशिखर* पर हुआ। आप वर्तमान काल के चौबीस तीर्थंकरों में स्त्री तीर्थंकर थे। आपने विवाह नहीं किया आजन्म ब्रह्मचारी रहे। स्त्री होकर आपने बहुत व्यापक भ्रमण किया और धर्म प्रचार किया। आपने चालीस हजार मुनियों को और पचपन हजार साध्वियों को दीक्षा दी। आपके एक लाख उन्नासी हजार श्रावक थे और तीन लाख सत्तर हजार श्राविकाएँ थीं।

(२) भगवान् मुनिसुव्रतनाथजी बीसवें तीर्थंकर थे। आपकी जन्म भूमि राजगृह नगरी पिता हरिवंश-कुलोत्पन्न सुमित्र राजा और

माता पद्मावतीदेवी। जन्म ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी को और निर्वाण ज्येष्ठ कृष्णा नवमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर।

(२१) भगवान् नमिनाथजी इक्कीसवें तीर्थंकर थे। आपकी जन्म-भूमि मिथिला नगरी थी। कुछ आचार्य मथुरा नगरी बताते हैं। पिता विजयसेन राजा और माता वप्रादेवी। जन्म श्रावण कृष्णा अष्टमी को और निर्वाण वैशाख कृष्णा दशमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेत-शिखर।

(२२) भगवान् नेमिनाथजी बाईसवें तीर्थंकर थे। आपका दूसरा नाम अरिष्टनेमि भी था। आप की जन्म-भूमि आगरा के पास शौरीपुर नगर, पिता यदुवंश के राजा समुद्रविजयजी, और माता शिवादेवी। जन्म श्रावण शुक्ला पंचमी को और निर्वाण आषाढ शुक्ला अष्टमी को हुआ। निर्वाण भूमि काठियावाड़ में गिरनार पर्वत है जिसे पुराने युग में रेवतगिरि भी कहते थे। भगवान् अरिष्टनेमिजी कर्मयोगी श्रीकृष्ण चन्द्रजी के ताऊ के पुत्र भाई थे। कृष्णजी ने आपसे ही धर्मोपदेश सुना था। आप बड़े ही कोमल प्रकृति के महापुरुष थे। आपका विवाह-सम्बन्ध महाराजा उग्रसेन की सुपुत्री राजीमती से निश्चित हुआ था, किन्तु विवाह के अवसर पर बरातियों के भोजन के लिए पशु वध होता देख कर विरक्त हो मुनि बन गए विवाह नहीं कराया।

(२३) भगवान् पार्श्वनाथजी तेईसवें तीर्थंकर थे। आपकी जन्म भूमि काशी देश बनारस नगरी, पिता अश्वसेन राजा और माता वामा देवी। जन्म पौष कृष्णा दशमी और निर्वाण श्रावण शुक्ला अष्टमी। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर। आपने कमठ तपस्वी को बोध दिया था और उसकी धूनी में से जलते हुए नाग नागनी को बचाया था।

(२४) भगवान् महावीर चौबीसवें तीर्थंकर थे। आपकी जन्म-भूमि वैशाली (क्षत्रिय कुण्ड), पिता सिद्धार्थ राजा और माता त्रिशलादेवी। जन्म चैत्र शुक्ला त्रयोदशी और निर्वाण कार्तिक कृष्णा पँदरस। निर्वाण-

भूमि पावापुरी। भगवान् महावीर बड़े ही उत्कृष्ट त्यागी पुरुष थे। भारतवर्ष में सर्वत्र फैले हुए हिंसामय यज्ञों का निषेध आपके ही द्वारा हुआ था। बौद्ध-साहित्य में भी आप का उल्लेख आता है। बुद्ध आप के समकालीन थे। आज-कल भगवान् महावीर का ही शासन चल रहा है।

: १० :

आदर्श जैन

सकल विश्व की शान्ति चाहने वाला,
सब को प्रेम और स्नेह की आँखों से देखने वाला,
वही सच्चा जैन है।

❀ ❀ ❀

शान्ति का मधुर संगीत सुनाकर
ज्ञान का प्रकाश दिखाने वाला।
कर्तव्य-वीरता का डंका बजा बजा कर,
प्रेम की सुगन्ध फैलाने वाला।
अज्ञान और मोह की निद्रा से जगाने वाला
वही सच्चा जैन है।

❀ ❀ ❀

ज्ञान चेतना की गंगा बहाने वाला
मधुरता की मधुर मूर्ति
मेरु को भी क्षण भर में कँप कँपाने वाला वीर
वही सच्चा जैन है।

❀ ❀ ❀

जैन का अर्थ 'अजेय' है,
मन और इन्द्रियों के विकारों को जीतने वाला
आत्मविजय की सदा प्रतीक्षा में रहने वाला।
वही सच्चा जैन है!

❀ ❀ ❀

'जैनत्व' और कुछ नहीं आत्मा की शुद्ध स्थिति है!
आत्मा को जितना कसा जाये उतना ही जैनत्व का विकास।

जैन कोई जाति नहीं है, धर्म है।
किसी भी देश, पथ और जाति का
कोई भी आत्म-विजयपथ का गामी वही जैन।

• • •

जैन बहुत थोड़ा परन्तु मधुर बोलता है,
मानो झरता हुआ अमृत रस हो।
उसकी मृदु वाणी, कठोर से कठोर हृदय को भी
पिघला कर मक्खन बना देती है।
जैन के जहां भी पाँव पड़ें वहीं
कल्याण फैल जाय।
जैन का समागम
सब को अपूर्व शान्ति देता है।
इसके गुलाबी हास्य के पुष्प
मानव मानस को सुगन्धित बना देते हैं।
उसकी सब प्रवृत्तियाँ
जीवन में रस और मजा भरने वाली हैं।

• • •

जैन गहरा है, अत्यन्त गहरा है।
वह छिछोरा नहीं छलकने वाला नहीं।
उसके हृदय की गहराई में
शक्ति और शान्ति का अक्षय भंडार है
प्रेम और धैर्य का अखण्ड प्रवाह है,
करुणा और विवेक भक्ति की मधुर झनकार है।

• • •

धन वैभव से जैन का कौन खरीद सकता है!
धमकियों से कौन डरा सकता है!
और खुशामद से भी कौन चलित कर सकता है!

गाई नहीं, छोड़ नहीं !
सिद्धान्त के लिए काम पड़े तो यह पल भर में
स्वर्ग के साम्राज्य को भी ठोकर मार सकता है !

❀ ❀ ❀

जैन के त्याग में दिव्य जीवन की सुगन्ध है !
आत्मकल्याण और विश्वकल्याण का विलक्षण मेल है !
जैन की शक्ति संहार के लिए नहीं है !
यह तो अशक्तों को शक्ति देती है
शुभ की स्थापना करती है,
और अशुभ का नाश करती है !
पवित्रता और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए जैन
मृत्यु को भी हर्षपूर्वक निमंत्रण देता है !
जैन जीता है
आत्मा के पूर्ण वैभव में
और मरता भी है जैन
आत्मा के पूर्ण वैभव में !

❀ ❀ ❀

जैन की गरीबी में सन्तोष की छाया है !
उसकी अमीरी में गरीबों का हिस्सा है !

❀ ❀ ❀

आत्म-श्रद्धा की नौका पर चढ कर,
निर्भय और निर्द्वन्द्व लम्बी जीवन-यात्रा करता है !
विवेक के उज्ज्वल झंडे के नीचे
अपने व्यक्तित्व को चमकाता है !
राग और द्वेष से रहित
वासनाओं का विजेता 'अरिहंत' उसका उपास्य है !

❀ ❀ ❀

दुनिया के प्रवाह में स्वयं न बह कर,
दुनिया को ही अपनी ओर खींचता है।
मानव-संसार को अपने उज्ज्वल चरित्र से
प्रभावित करता है।
अतएव एक दिन
देवता भी सच्चे जैन के चरणों में,
सादर सभक्ति मस्तक झुका देते हैं।

* * *

जैन बनना साधक के लिए
परम सौभाग्य की बात है।
जैनत्व का विकास करना
इसी में मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है।

['आदर्श जैन' के आधार पर]

: ११ :

दान

भारतवर्ष धर्म-प्रधान देश है। यहाँ धर्म को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। छोटी-से-छोटी बात को भी धम के द्वारा ही परखना, अच्छा माना गया है। अतएव भारत में धर्मक्रियाओं की कोई निश्चित गिनती नहीं है। जीवन समाप्त हो सकता है, परन्तु धर्म क्रियाओं की गणना नही हो सकती। जितने भी अच्छे विचार और अच्छे आचार हैं, सब धम हैं।

परन्तु सब धर्मों में कौनसा सब से बड़ा धर्म है ?—यह प्रश्न है, जो अनादि काल से साधक के मन में उठता आया है। इस प्रश्न का समाधान अनेक प्रकार से किया गया है। किन्हीं महापुरुषों ने तप को बड़ा धर्म बताया है, किसी ने दया को, किसी ने सत्य को, किसी ने भगवान की भक्ति को, किसी ने ब्रह्मचर्य को, तो किसी ने क्षमा को। सभी ने अपने अपने दृष्टिकोण से ठीक कहा है। परन्तु हमें एक महा पुरुष की बात यहाँ सब से अच्छी मालूम देती है कि—"दान धर्म सब से बड़ा धर्म है।"

दान का महत्त्व बहुत बढ़ा चढ़ा है। दान दुर्गति का नाश करता है, मनुष्य के हृदय को विशाल और विराट बनाता है, सोई हुई मानवता को जागृत करता है, हृदय में दया और प्रेम की गंगा बहा देता है, सहानुभूति का एक सुन्दर सुरभि-मय वातावरण तैयार करता है। दान देने से संसार में कोई भी वस्तु अप्राप्य नहीं रहती। दान देने वाला सर्वत्र प्रेम और आदर का स्थान पाता है। उसकी कीर्ति दशों दिशाओं में फैल जाती है।

दान देना कोई साधारण कार्य नहीं है। अपनी संग्रह की हुई वस्तु

को मुक्त कर के किसी का भरण कर देना वस्तुतः बहुत बड़े सत्-कारण का काम है। लोग कौड़ी कौड़ी पर मरते हैं लड़ते-झगड़ते हैं। पैसे पैसे के लिये अपने भाइयों को फन्दे में डालते हैं। दुनिया भर का तूफान खड़ा करने के बाद कहीं जाकर पैसे प्राप्त होते हैं। उस पैसे को सत्कर्म में लगाए हैं। धन को त्याग त्यागधर्मी प्राय कहलाते हैं। तभी तो कहा है देना बड़ा महा कठिन है। अपने पसीने की गाढ़ी कमाई को परोपकार में खर्च करना बड़े ही भाग्यशाली देवात्मा पुरुषों का काम है। जो ऐसे पुरुष दान करते हैं और प्रसन्न भाव से करते हैं वास्तव में वे देवस्वरूप हैं। दान देते समय दाता अपना ऊँचा जीवन प्राप्त कर लेता है।

जैनधर्म में दान की बड़ी महिमा गाई है। दान देने वाले को स्वर्ग और मोक्ष का अधिकारी बताया है। भगवान महावीर खुद बहुत बड़े दानी थे। बचपन से ही उन्हें दान से प्रेम था। किसी भी भूखे गरीब को देखते तो उनकी आँखों से आँसू टपकने लगते थे। जो भी पास में होता उस गरीब को दान कर देते थे। भगवान राजकुमार थे। किसी भी सुख साधन की कमी नहीं थी वे हमेशा अपने को मिला हुआ विविध मिष्टान्न आदि भोजन साथियों को बाँट कर ही खाते थे। राजपाट त्याग कर जब मुनि होने लगे तब भी भगवान ने एक वर्ष तक निरन्तर दान दिया था। जो कुछ भी अपने पास धन का संग्रह था वह सब का सब गरीबों को लुटा दिया था। उन दिनों भगवान एक वर्ष तक नित्य प्रति एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुद्राएँ दान में देते रहे। भगवान पार्श्वनाथ आदि दूसरे तीर्थंकर भी बहुत बड़े दानी थे। जैन धर्म में जहाँ दान शील तप और भावना के रूप में धर्म के चार भेद बताए हैं वहाँ सब प्रथम स्थान दान को ही प्रदान किया है। वस्तुतः दान है भी सर्व प्रथम स्थान पाने के योग्य।

जैन शास्त्रों में दान के चार प्रकार बतलाए हैं—

(१) आहार दान—मनुष्य की सब से पहली आवश्यकता भोजन

ती है। जब भूख लगी हुई होती है, तब कुछ भी नहीं सूझता। अन्न जीवन का प्राण है। जिसने अन्न का दान दिया, उसने सब कुछ दिया। घर पर आए हुए साधु मुनिराजों को विनय भक्ति के साथ आहार वहराना चाहिए। मुनियों को दान देना, अक्षय धर्म को प्राप्त करना है। साधुओं के अलावा किसी भूखे गरीब को भोजन देना भी बहुत बड़े धर्म एव पुण्य का कार्य है। राजा प्रदेशी ने जैन मुनि केशी कुमार के उपदेश से प्रभावित होकर गरीबों के लिए अपने राज्य की आयका चतुर्थांश दान में लगाने का प्रबन्ध किया था। जैन धर्म विश्व वेदना का अनुभव सदा से करता आया है। जनता के दुःख दर्द में बराबर का हिस्सेदार बन कर सहायता पहुँचाना, उसने अपना महान् कर्तव्य माना है।

(२) औषधदान—मनुष्य जब रोग ग्रस्त होता है, तब किसी भी काम का नहीं रहता है। न वह पुरुषार्थ कर अपना और अपने परिवार का ही पेट पाल सकता है, और न अच्छी तरह श्रद्धा भावना के साथ धर्माराधन ही कर सकता है। मन स्वस्थ होने पर ही सब साधना होती है। और मन की स्वस्थता प्राय शरीर की स्वस्थता पर निर्भर है। अगर कभी तुम बीमार पड़े हो, तो उस समय का अनुभव याद करके देखो, कितनी वेदना होती थी, कितना छटपटाते थे? बस समझलो, सब जीवों को अपने समान ही दुःख होता है। अतएव जैन धर्म में औषध दान का भी बहुत बड़ा महत्व है। आचार्य अमितगति ने उपासकाचार में कहा है कि "औषधदान का महत्व वचन से वर्णन नहीं किया जा सकता। औषध दान पाकर जब मनुष्य नीरोग होता है, तो एक बार तो सिद्ध भगवान जैसा सुख पा लेता है।" आचार्य ने यह उपमा नीरोगता की दृष्टि से कही है। जैन धर्म के एक और मर्मी सन्त सुखों की गणना करते हुए कहते हैं कि—"पहला सुख नीरोगी काया।" रोग रहित अवस्था को पहला सुख माना गया है। ठीक भी है—जब आदमी बीमार होता है, तो कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। भोजन, पान, राग रंग सब जहर मालूम होने लगते हैं। औषधदान ही मनुष्य को यह पहला सुख प्रदान

करता है। जब कोई आदमी किसी की औषधि से अच्छा हो जाता है, तब वह कितना आशीर्वाद देता है? यह आशीर्वाद ही मनुष्य को सुख शान्ति देने वाला होता है।

(३) ज्ञानदान—ज्ञान के बिना मनुष्य अन्धा होता है। किसी अंधे को अगर आँखें मिल जायें तो कितना आनन्द हो? इसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य को विद्या का दान देना, बहुत महत्त्वपूर्ण दान है। ज्ञान दान की तुलना चक्षु दान से की गई है। प्राचीन काल में नालन्दा आदि विश्व विद्यालय इसी भावना को लक्ष्य में रखकर स्थापित किये गए थे जहाँ भारत के और भारत से बाहर स्याम जावा सुमात्रा, चीन तथा यूनान आदि विदेशों के हजारों विद्यार्थी बिना किसी भेद भाव के ज्ञानाभ्यास करते थे। गरीब विद्यार्थियों के लिए पाठशाला खोलना पाठशालाओं को दान देना, स्कालर शिप देना पुस्तकें खरीद देना बोर्डिंग हाउस बनाना आदि सब विद्यादान में शामिल होते हैं। जैन धर्म ने इस दान में भी बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। आचार्य अमित गति ने तो यहाँ तक कहा है कि— 'धर्म अर्थ काम और मोक्ष चारों ही पुरुषार्थ विद्या के द्वारा सिद्ध होते हैं अतः विद्यादान देने वाला चारों ही पुरुषार्थ पाने का अधिकारी है।" भगवान महावीर ने भी कहा है— 'पढमं नाणं तओ दया।' अर्थात् "पहले ज्ञान है और बाद में दया तथा परोपकार आदि हैं।

(४) अभयदान—अभयदान का अर्थ है किसी मरते हुए प्राणी को बचाना किसी संकट में पड़े हुए प्राणी का उद्धार करना। यह दान सर्वश्रेष्ठ दान समझा गया है। भगवान महावीर के पट्टधर श्री सुधर्मा-स्वामी ने कहा है कि—'दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं।' 'सब दानों में श्रेष्ठ दान अभयदान है।' अभयदान जैनधर्म का तो प्राण है। जैनधर्म की बुनियाद ही अभयदान पर है। आचार्य अमित गति उपासकाचार में कहते हैं कि— अभयदान पाकर प्राणी को जो सुख होता है, वह सुख संसार में न कोई दूसरा है, न

हुआ और न कभी होगा।" दयालु मनुष्य भगवान का दर्जा प्राप्त करता है। भगवान महावीर ने भी भगवान का पद अभयदान के द्वारा ही प्राप्त किया था। भगवान ने न अपनी ओर से किसी को कष्ट दिया, और न किसी और से दिलवाया। इतना ही नहीं, यज्ञ आदि में मारे जाने वाले मूक पशुओं की रक्षा के लिए भी विशाल प्रयत्न किया। भारतवर्ष से अश्वमेघ आदि हिंसक यज्ञों के अस्तित्व का नाश होने में भगवान महावीर का वह अभयदान--सम्बन्धी महान प्रयत्न ही मुख्य कारण था। अतएव प्रत्येक जैन का कर्तव्य है कि वह जैसे भी बने मरते जीवों की रक्षा करे, भूख और प्यास से मरते जीवों को अन्नजल द्वारा सहायता पहुँचाए, गोशाला आदि के द्वारा मूक पशुओं की रक्षा का उचित प्रबन्ध करे, जीव दया के कार्यों में अधिक से अधिक अपने धन का उपयोग करे। आज के हिंसामय युग में दया की गंगा बहाने का आदर्श कार्य, यदि जैन नहीं करेंगे, तो कौन करेंगे? जैन जहाँ भी हो, जिस स्थिति में भी हो, सर्वत्र अहिंसा और करुणा का वातावरण पैदा करदे। सच्चा जैन वही है, जिसे देखकर दुःख दर्द से आँसू बहाने वाले के मुख पर भी एक बार तो प्रसन्नता का मधुर हास्य चमक उठे। जैन जहाँ भी हो, जीवन दान देने वाले के नाम से प्रसिद्ध हो।

दान के ये चार प्रकार केवल वस्तुस्थिति के निदर्शन के लिए हैं। दान धर्म की सीमा यहीं तक समाप्त नहीं है। जो भी कार्य दूसरे को सुख शान्ति पहुँचाने वाला हो, वह सब दान के अन्तर्गत आ जाता है। भगवान महावीर ने पुण्य की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि अन्न, जल, धर्मशाला=अतिथि गृह, वस्त्र आदि के दान से मनुष्य को स्वर्गादि सुखदाता पुण्य की प्राप्ति होती है। दान का यह विवेचन उन लोगों की आँखें खोलने के लिए है, जो यह कहते हैं कि—"जैन धर्म तो निष्क्रिय धर्म है। वह केवल अपने तप और त्याग की भावना में ही सीमित है। जन-कल्याण के लिए कोई क्रियात्मक उपदेश उसके पास नहीं है।" कोई भी विचारक देख सकता है कि यह दान का विस्तृत

विवेचन जैनधर्म की सक्रियता सिद्ध करता है या निष्क्रियता? जनकल्याण के क्षेत्र में जैनधर्म ने जो विचार धारा दान के रूप में संसार के समक्ष रक्खी है वह अपनी जोड़ में बेजोड़ है।

दान का विवेचन एक प्रकार से समाप्त किया जा चुका है। फिर भी एक दो प्रश्न ऐसे हैं, जिन पर विचार कर लेना अतीव आवश्यक है। कुछ लोग कहते हैं कि दान धर्म उत्तम वस्तु है। परन्तु उसका अधिकारी केवल सुपात्र ही है। और वह सुपात्र और कोई नहीं एक मात्र साधु ही है। अतएव साधु के अतिरिक्त किसी गरीब दुखी संसारी आत्मा को दान देना, अधर्म है धर्म नहीं। संसारी जीव सब कुपात्र हैं। और कुपात्र का दान भव-भ्रमण का कारण है।

दान के सम्बन्ध में ऊपर का तर्क सर्वथा असत्य है। क्या सुपात्र एक मात्र साधु ही है और कोई नहीं? क्या गृहस्थ में रह कर सदाचार पूर्वक जीवन बिताने वाले स्त्री पुरुष कुपात्र हैं? सुपात्र का सम्बन्ध साधु से ही लगाना शास्त्र का अपलाप करना है। कोई भी सदाचारी जीवन सुपात्र कहला सकता है। और फिर यह कहाँ का नियम है कि सुपात्रको ही दान देना और किसी गरीब दीन दुखी को नहीं। भगवान महावीर ने तो जैनत्व का यह प्रमुख चिह्न माना है कि—"दुखी को देख कर मन में अनुकम्पा भाव लाना और यथा शक्य उसका दुःख दूर करने का प्रयत्न करना।" यह ठीक है कि सुपात्र को दान देने का बहुत महत्त्व है। परन्तु जहाँ संकट काल में किसी प्राणी को सहायता पहुँचाने का प्रश्न हो वहाँ पात्रापात्र का विचार करना करुणा से धर्म का महान विघात है! कम से कम जैन धर्म का हमें पता है यहाँ तो यह अनुमान भी नहीं है। जैन धर्म तो प्राणिमात्र के प्रति वात्सल्य की भावना को लेकर भू मण्डल पर आया है। वह मानव हृदय में उमड़ने वाली दया की लहर को किसी विशेष जाति विशेष राष्ट्र विशेष पथ विशेष संप्रदाय, अथवा विशेष व्यक्ति के संकुचित क्षेत्र में आबद्ध नहीं

करना चाहता। जो गरीब भाई तुम्हारे सम्मुख आकर एक रोटी के टुकड़े की आशा प्रकट करे और अपना हाथ फैलावे, क्या यह उसने अपने आप को बहुत नीचे स्तर पर लाकर नहीं किया है? क्या वह गरीब कुपात्र है? क्या दुखी को किसी से कुछ पाने का अधिकार नहीं है? उस गरीब को अभाव ने जिस दुरवस्था में डाला है, क्या हम उसे उसी में सड़ने दें? क्या यह मानवता होगी? नहीं, नहीं। दीन दुखी को दान देना कभी भी किसी तरह भी असगत नहीं कहा जा सकता।

भूखे और गरीब प्राणियों को दान देने के विरोध में एक और तर्क है, जो बिल्कुल ही अजीब है। कुछ दार्शनिक कहते हैं कि—"लगड़े, लूले दरिद्र, कुष्ठी आदि को दान नहीं देना चाहिए। क्यों? इसलिए कि वह परमेश्वर का कोपभाजन है, ईश्वर उसे उसके पापों का दण्ड दे रहा है, अस्तु उस पर दया लाकर सहायता पहुँचाना, एक प्रकार से भगवान की आज्ञा का विरोध करना है। परमेश्वर जिसको पापी समझ कर सजा देता है, उसको सजा भुगतना ही उचित है।" इन आवश्यकता से अधिक बुद्धिमानों ने मान लिया है कि ईश्वर सजा दे रहा है, और वह हमारे दान के दखल से अप्रसन्न होगा, क्या दूर की सूझी है! ईश्वर मारता है तो तुम भी मारो, बड़े अच्छे सपूत कहलाओगे? जैन दर्शन कहता है कि प्रथम तो ईश्वर किसी को दण्ड देता है, यही सिद्धान्त मिथ्या है। ईश्वर वीतराग है, राग द्वेष से परे है। उसे क्या पड़ी है कि बिचारे जीवों को सताता फिरे? ईश्वर को दण्डदाता मानना, पीड़ित प्राणियों के प्रति अपनी सहानुभूति और कर्तव्य की उपेक्षा करना है। दूसरी बात यह है कि यदि ईश्वर दण्ड ही दे रहा हो तब भी हमें सहायता करनी चाहिए। जैन धर्म तो साक्षात् ईश्वर भी यदि सामने आकर रोके, तब भी किसी दुखी की सहायता करने से नहीं रुक सकता। मनुष्य को अपने हृदय में रही हुई मानवता की आवाज को सुनना चाहिए, फिर ईश्वर भले ही कुछ कहता रहे। क्या इस प्रकार ईश्वर की उपासना

का यही अर्थ है कि संसार में कोई किसी गरीब के आँसू पोंछने वाला भी न रहे। सर्वत्र हाहाकार और अत्याचार का ही राज्य रहे। नहीं, जैनधर्म कभी ऐसा नहीं होने देगा। वह दीन बन्धु है, अपना कर्तव्य हर हालत में अदा करेगा।

: १२ :

रात्रि-भोजन

जीवन के लिए भोजन आवश्यक है। बिना भोजन किए, मनुष्य का दुर्बल जीवन, टिक ही नहीं सकता। आखिर मनुष्य अन्न का कीड़ा ही जो ठहरा। परन्तु भोजन करने की भी सीमा है। जीवन के लिए भोजन है, न कि भोजन के लिए जीवन! खेद की बात है कि आज के युग में भोजन के लिए जीवन बन गया है। आज का मनुष्य भोजन पर मरता है। खाने पीने के सम्बन्ध में सब प्राचीन नियम प्राय. भुला दिए गए हैं। जो कुछ भी अच्छा बुरा सामने आता है, मनुष्य चट करना चाहता है। न मांस से घृणा है, न मद्य से। न भक्ष्य का पता है, न अभक्ष्य का। धर्म की बात तो जाने दीजिए, आज तो भोजन के फेर में अपने स्वास्थ्य का भी ध्यान नहीं रक्खा जा रहा है।

आज का मनुष्य प्रातःकाल बिस्तर से उठते ही खाने लगता है, और दिन भर पशुओं की तरह चरता रहता है। घर पर खाता है, मित्रों के यहाँ खाता है, बाजार में खाता है। और तो क्या, दिन छिपते खाता है, रात को खाता है और बिस्तर पर सोते-सोते भी दूध का गिलास पेट में उँडेल लेता है। पेट है, या कुछ और! दिन रात इस गड्ढे की भरती होती रहती है, फिर भी सन्तोष नहीं।

भारत के प्राचीन शास्त्रकारों ने भोजन के सम्बन्ध में बड़े ही सुन्दर नियमों का विधान किया है। भोजन में शुद्धता, पवित्रता, स्वच्छता और स्वास्थ्य का ध्यान रखना चाहिए, स्वाद का नहीं। मांस और शराब आदि अभक्ष्य पदार्थों से सर्वथा घृणा रखनी चाहिए। और वह शुद्ध भोजन भी भूख लगने पर ही खाना चाहिए। भूख के बिना भोजन का एक कौर भी पेट में डालना, पापमय अन्न का भक्षण करना है।

भूख लगने पर भी दिन में दो तीन बार से अधिक भोजन नहीं करना चाहिए, और रात में भोजन करना तो कभी भी उचित नहीं है।

जैन धर्म में रात्रि भोजन के निषेध पर जोर दिया है। प्राचीन काल में तो रात्रि भोजन न करना, जैनत्व की पहचान के लिए आवश्यक था। आज है भी ठीक यह जैन कैसा जो रात्रि में भोजन करे। रात्रि में भोजन करने से जैन धर्म ने हिंसा का दोष बतलाया है।

बहुत से इस प्रकार के छोटे और सूक्ष्म जीव होते हैं, जो दिन में सूर्य के प्रकाश में तो दृष्टि में आ सकते हैं, परन्तु रात्रि में तो वे कथमपि दृष्टिगोचर नहीं हो सकते। रात्रि में मनुष्य की आँखें निस्तेज हो जाती हैं। अतएव वे सूक्ष्म जीव भोजन में गिर कर जब दाँतों के नीचे पिस जाते हैं और अन्दर पेट में पहुँच जाते हैं तो बड़ा ही अनर्थ करते हैं। जिस मनुष्य ने मांसाहार का त्याग किया है, वह कभी-कभी इस प्रकार मांसाहार के दोष से दूषित हो जाता है। बिचारे जीवों की व्यर्थ ही अज्ञानता से हिंसा होती है और अपना नियम भंग होता है। कितनी अधिक विचारने की बात है।

आज के युग में कुछ मनचले लोग तर्क किया करते हैं कि "रात्रि में भोजन करने का निषेध सूक्ष्म जीवों को न देख सकने के कारण ही किया जाता है न? अगर हम दीपक जलावें और प्रकाश करलें फिर तो कोई हानि नहीं?" उत्तर में कहना है कि दीपक आदि के द्वारा हिंसा से बचा नहीं जा सकता। दीपक बिजली और चन्द्रमा आदि का प्रकाश अच्छे-से अच्छा कितना ही क्यों न हो परन्तु वह सूर्य के प्रकाश जैसा सार्वभौम, व्यापक उज्ज्वल और आरोग्यप्रद नहीं है। जीव-रक्षा और स्वास्थ्य की दृष्टि से सूर्य का प्रकाश ही सब से अधिक उपयोगी है। और कभी कभी तो यह देखा गया है कि दीपक आदि का प्रकाश होने पर आस पास के जीव जन्तु और अधिक सिमट कर आ जाते हैं अतएव भोजन करते समय उनसे बचना बड़ा ही कठिन काम हो जाता है।

त्याग धर्म का मूल सन्तोष में है। इस दृष्टि से भी दिन की अन्य

सभी प्रवृत्तियों के साथ भोजन की प्रवृत्ति को भी समाप्त कर देना चाहिए, तथा सन्तोष के साथ रात्रि में पेट को पूर्ण विश्राम देना चाहिए। ऐसा करने से भली भाँति निद्रा आती है, ब्रह्मचर्य पालन में भी सहायता मिलती है, और सब प्रकार से आरोग्य की वृद्धि होती है। जैन धर्म का यह नियम, पूर्णतया आध्यात्मिक और वैज्ञानिक दृष्टि को लिए हुए है। शरीर-शास्त्र के ज्ञाता लोग भी रात्रि भोजन को बल, बुद्धि और आयु का नाश करने वाला बतलाते हैं। रात्रि में हृदय और नाभि कमल सकुचित हो जाते हैं, अत भोजन का परिपाक अच्छी तरह नहीं हो पाता।

धर्म शास्त्र और वैद्यक शास्त्र की गहराइ में न जाकर, यदि हम साधारण तौर पर होने वाली रात्रि भोजन की हानियों को देखें, तब भी यह सर्वथा अनुचित ठहरता है। भोजन में कीड़ी (चिउँटी) खाने में आ जाय तो बुद्धि का नाश होता है, जूँ खाई जाय तो जलोदर नामक भयकर रोग हो जाता है, मक्खी चली जाय तो वमन हो जाता है, छिपकली चली जाय तो कोढ हो जाता है, शाक आदि में मिलकर बिच्छू पेट में चला जाय तो तालू वेध डालता है, बाल गले में चिपक जाय तो स्वर भग हो जाता है, इत्यादि अनेक दोष रात्रि भोजन में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं।

रात्रि का भोजन, अन्धों का भोजन है। एक दो नहीं, हजारों ही दुर्घटनाएँ, देश में रात्रि भोजन के कारण होती हैं। सैकड़ों ही लोग अपने जीवन तक से हाथ धो बैठते हैं। उदाहरण के लिए मेवाड़ की एक घटना यहाँ दी जा रही है —

मेवाड़ के भाटिया गाँव में एक राज-कर्मचारी के यहाँ पण्डित जी महाराज रोटी बना रहे थे। महाराज का नाम टीका राम था। एक दिन रात्रि के समय भोजन में भिंडी का शाक बनाया। भिंडियाँ मसाला भर के समूची ही तवे पर बघारी गई थीं। अचानक छत से एक छिपकली भी तवे पर आ गिरी। तवा लाल सूर्ख धँधक रहा था कि पड़ते ही

छिपकली के प्राण तो खो ही गए। पल भर में वह भी फूल कर कुप्पा बन गई और भिंडियों में मिल गई। राज कर्मचारी भोजन करने बैठे तो पहली ही बार भिंडी के साथ वह भुनी हुई छिपकली भी थाली में आगई। पहले ही कौर में उसकी पूँछ हाथ में आई। राज-कर्मचारी आपे से बाहर हो गए। बावर्ची बेचारा पर गालियों की बौछार होने लगी—"हरामजादे, भिंडी का डंठल तक तुमसे नहीं तोड़ा गया। दूसरे कौर में छिपकली के पैरों पर हाथ पड़ा। अब तो खाने वाले महाशय बड़े ही तमतमाये। दीपक मँगाकर प्रकाश में देखा तो छिपकली नज़र आई। उस दिन उनकी आँखें खुल गईं और रात्रि भोजन का सदा के लिए त्याग कर दिया। दुर्भाग्यवश यदि वह छिपकली खाई जाती तो कितना अनर्थ होता।

किं बहुना रात्रि भोजन सब प्रकार से त्याज्य है। जैन धर्म में तो इसका बहुत ही प्रबल निषेध किया गया है। अन्य धर्मों में भी इसे आदर की दृष्टि से नहीं देखा गया है। कूर्म पुराण आदि वैदिक पुराणों में भी रात्रि भोजन का निषेध है। आज के युग के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष महात्मा गांधी भी रात्रि भोजन को अच्छा नहीं समझते थे। करीब ४ वर्ष से जीवन पर्यन्त रात्रि भोजन के त्याग के व्रत को बापू जी बड़ी दृढ़ता से पालन करते थे। यूरोप में गए तब भी उन्होंने रात्रि भोजन नहीं किया। हाँ तो प्रत्येक जैन का कर्तव्य है कि वह रात्रि भोजन का त्याग करे, न रात्रि में भोजन बनावे और न खावे।

: १३ :

मांसाहार

संसार में पापों की कोई गणना नहीं है, एक से एक भयंकर पाप हमारे सामने हैं। परन्तु मांसाहार का पाप बड़ा ही भयंकर तथा निन्दनीय है। मांसाहार मनुष्य के कोमल हृदय की कोमल भावनाओं को नष्ट भ्रष्ट कर उसे पूर्णतया निर्दय और कठोर बना देता है। मांस किसी खेत में नहीं पैदा होता, वृक्षों पर नहीं लगता, आकाश से नहीं बरसता, वह तो चलते फिरते जीवित प्राणियों को मारकर उनके शरीर से प्राप्त होता है। जब आदमी पैर में लगे एक कांटे का दर्द भी सहन नहीं कर सकता, रातभर छटपटाता रहता है, तब भला दूसरे मूक जीवों की गर्दन पर छुरी चला देना किस प्रकार न्याय संगत हो सकता है? जरा शान्त चित्त से ईमानदारी के साथ कल्पना कीजिए कि उनको कितना भयंकर दर्द होता होगा। अपने क्षणिक जिह्वा के स्वाद के लिए दूसरे जीवों को मार कर लाश बना देना, कितना जघन्य आचरण है! जब आदमी किसी को जीवन नहीं दे सकता, तो उसे क्या अधिकार है कि वह दूसरे का जीवन ले!

आहार विहार में होने वाली साधारण सी हिंसा भी जब निन्दनीय मानी जाती है, तब स्थूल पशुओं की हत्या करना तो और भी भयंकर कार्य है। वधिक जब चमचमाता छुरा लेकर मूक पशुओं की गर्दन पर प्रहार करता है, तब वह दृश्य कितना भयंकर होता है! साधारण सहृदय आदमी तो उस राक्षसी दृश्य को देख भी नहीं सकता। खून की धारा बह रही हो, मांस का ढेर लग रहा हो, हड्डियाँ इधर उधर बिखर रही हों, रक्त से सने हुए चमड़े के खंड पड़े हों, और ऊपर से गीध, चील आदि नीच पक्षी मँडरा रहे हों, इस घृणित दशा में, मनुष्य नहीं, राक्षस

हो काम कर सकता है। यही कारण है कि यूरोप में तो ऊँचे मस्तिष्क वाले कसाई की गवाही भी नहीं लेते हैं। उनकी दृष्टि में कसाई इतना निर्दय हो जाता है कि वह मनुष्य भी नहीं रह पाता। इतने हीन निर्दय मनुष्य में मनुष्यता रह भी कहाँ सकती है?

जैनधर्म में मांसाहार का बड़ी ही दृढ़ता से विरोध किया गया है। श्रमण संस्कृति के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने मांसाहार को दुर्व्यसनों में माना है और इसे नरक का कारण बताया है। स्थानांग सूत्र के चौथे स्थान में कथन किया है कि "चार कारणों से प्राणी नरक में जाता है— महा आरम्भ करने से, महापरिग्रह रखने से, पंचेन्द्रिय जीवों का वध करने से और मांस भक्षण करने से।" एक आचार्य ने तो मांस शब्द की व्युत्पत्ति ही बड़ी हृदयस्पर्शी की है। मांस शब्द में दो अक्षर हैं 'मां' और 'स'। 'मां' का अर्थ 'मुझको' होता है और 'स' का अर्थ 'वह' होता है। दोनों अर्थों को मिलाकर यह भाव निकलता है कि 'जिसको मैं यहाँ मारकर खा रहा हूँ वह मुझे भी कभी मार कर खायेगा।' मांसाहारी लोग इस प्रश्न पर विचार करें और मांसाहार का त्याग कर अपने को भावी भय से बचायें।

आजकल के कुछ नास्तिक विचार धारा के लोग तर्क करते हैं कि "मनुष्य अन्न खाता है हजारों गेहूँ आदि के दाने पीसकर पेट में डाल लेता है क्या इसमें हिंसा नहीं होती? बकरे आदि के मारने में तो एक जीव की ही हिंसा होती है परन्तु अन्न खाने में तो हजारों जीवों की हिंसा हो जाती है।" उत्तर में कहना है कि— गेहूँ आदि की बुनियाद अलग और बकरे की बुनियाद अलग है। गेहूँ अव्यक्त चेतना वाला जीव है और बकरा स्पष्ट चेतना वाला पंचेन्द्रिय जीव है। बकरे को मारने वाले के भाव अत्यधिक क्रूर निर्दय और पापमयी होते हैं, जबकि गेहूँ पीसने वाले के ऐसे नहीं होते। अतः बकरे की अन्न के दानों से तुलना करना अज्ञानता नहीं तो और क्या है? मांस जैसी अपवित्र घृणित तामसी चीज की सात्त्विक अन्न से तुलना कभी हो ही नहीं सकती।

मास खाना मानव प्रकृति के भी सर्वथा विरुद्ध है। मनुष्य प्रकृति से शाकाहारी प्राणी है, मांसाहारी नहीं। शाकाहारी और मासाहारी प्राणियों की बनावट में बड़ा भारी अन्तर होता है। मासाहारी पशुओं के नाखून पैने नुकीले होते हैं, जैसे कुत्ता, बिल्ली, सिंह आदि के। और शाकाहारी पशुओं के पैने नहीं होते, जैसे हाथी, गाय भैंस आदि के। मासाहारी पशुओं के जबड़े लंबे होते हैं, जबकि शाकाहारियों के गोल। गाय और कुत्ते के जबड़े देखने से यह भेद साफ मालूम हो जायगा। मासाहारी जीव पानी जीभ से चपल चपल कर पीते हैं और शाकाहारी ओंठ टेक कर। गाय, भैंस, बंदर तथा सिंह, बिल्ली, कुत्ता आदि को देखने से यह सब भेद स्पष्ट हो जाता है। आज के विज्ञान ने सोलह आने सिद्ध कर दिया है कि बन्दर तथा लंगूर एकदम शाकाहारी प्राणी हैं। जीवन भर ये फल फूल आदि पर ही गुजारा करते हैं। मनुष्य की आन्तरिक तथा बाह्य बनावट भी हू ब हू बन्दर तथा लंगूर से मिलती जुलती है। अतः मनुष्य भी नितान्त शाकाहारी प्राणी है। मासाहार की आदत उसने बाह्य विकृति से प्राप्त करली है, वह उसकी प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ती।

आर्थिक दृष्टि से भी मासाहार देश के लिए घातक ठहरता है। गाय भैंस, बकरी आदि देश के लिए बड़े ही उपयोगी पशु हैं। मासाहारियों द्वारा इनका संहार कितना भयंकर होता है, जरा ध्यान से देखने योग्य है। उदाहरण के लिए गाय को ही ले लीजिए। गाय से हमें दूध, दही, घी, गाय, बैल, गोबर आदि मिलते हैं। एक गाय की पूरी पीढ़ी से चार लाख, पचहत्तर हजार, छः सौ मनुष्यों को सुख पहुँचता है। जीवविज्ञानविशारदों ने गहरी छानबीन के पश्चात् हिसाब लगाया है कि गोवंश में से प्रत्येक गाय के दूध का मध्य मान ग्यारह सेर का आता है। उसके दूध देने के समय का औसत बारह महीने रहता है। अस्तु, प्रत्येक गाय के जन्मभर के दूध से २४९६० (चौबीस हजार, नौ सौ, साठ) मनुष्यों की एक बार में तृप्ति होती है। मध्य मान के

नियमानुसार प्रत्येक गाय से छह बछिया और छह बछड़े मिल पाते हैं। इनमें से यदि एक एक मर भी जावे तो भी पाँच बछियों के जीवन भर के दूध से १२५८० (एक लाख पच्चीस हजार, आठ सौ) मनुष्य एक बार में तृप्त हो सकते हैं। अब रहे पाँच बैल। अपने जीवन काल में, मध्य मान के अनुसार, कम से कम ५० (पाँच हजार) मन अनाज पैदा कर सकते हैं। यदि प्रत्येक आदमी एक बार में तीन पाव अनाज खावे तो उससे साधारण ढाई लाख आदमियों की एक बार में उदरपूर्ति हो सकती है। बछियाओं के दूध और बैलों के अन्न को मिला देने से ३,७५८०० (तीन लाख पचहत्तर हजार आठ सौ) आदमियों की भूख एक बार में बुझ सकती है, दोनों संख्याओं को मिलाकर एक गाय की पीढ़ी में ४७५६०० (चार लाख पचहत्तर हजार, छः सौ) मनुष्य एक बार में पालित हो जाते हैं। इतना ही नहीं बैलों से गाड़ियाँ चलती हैं सवारी का काम उनसे लेते हैं, भार उठाने के काम में भी वे आते हैं। यही कारण है कि भारतीय लोगों ने गाय को 'माता' कह कर पुकारा है। इसी प्रकार एक बकरी के जन्म भर के दूध से भी २५९२० [पच्चीस हजार नौ सौ बीस] आदमियों का परिपालन एकबार हो सकता है। हाथी, घोड़े ऊंट, भेड़ आदि प्राणियों से भी इसी प्रकार अनेक उपकार मनुष्य के लिए होते रहते हैं। अतएव इन उपकारी पशुओं को जो लोग स्वयं मारते तथा दूसरों से मरवाने का काम करते हैं उनको सारे मानव समाज की हत्या करने वाला ही समझना चाहिए।

स्वास्थ्य की दृष्टि से भी मांस निषिद्ध वस्तु है। मांस भक्षण से कैंसर, क्षय पायोरिया गठिया सिरदर्द मृगी, उन्माद, अनिद्रा तथा पथरी आदि भयंकर रोगों का आक्रमण होता है। शारीरिक बल और मानसिक प्रतिभा पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। यूरोप के म्यूनिख विश्वविद्यालय आदि में जो परीक्षाएँ हुई हैं उनमें भी शाकाहारी ही प्रथम प्रमाणित हुए हैं। दस हजार विद्यार्थी इस परीक्षा में बैठे थे।

इनमें से पाँच हजार को केवल शाकाहार फल, फूल, अन्न आदि पर और पाँच हजार को मांसाहार पर रक्खा था। छह महीने बाद जाँच करने पर मालूम हुआ कि मांसाहारियों की अपेक्षा शाकाहारी सब बातों में तेज रहे। शाकाहारियों में दया, क्षमा, प्रेम आदि गुण प्रकट हुए और मांसाहारियों में क्रोध, क्रूरता, भीरुता आदि। मांसाहारियों से शाकाहारियों में बल, सहनशक्ति आदि गुण भी विशेष रूप में पाए गए। शाकाहारियों में मानसिक शक्ति का विकाश भी अच्छा हुआ। किं बहुना, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और स्वास्थ्य आदि सभी दृष्टियों से मांसाहार सर्वथा हेय है। जो मनुष्य मनुष्य कहलाने का अधिकारी है, उसे तो मांस भक्षण का सदा के लिए त्याग कर देना चाहिए।

आदर्श साधु

आत्म-शान्ति और सिद्धि की खोज में
ज्ञान का उज्ज्वल प्रकाशमान प्रदीप लेकर
आत्मा से परमात्मा बनने के पथ पर
निकले हुए पूज्य साधु !
दुनिया की आसक्ति को त्यागकर
परलोक की सिद्धि के अमर साधक !
आपको वन्दन हो ! बारम्बार वन्दन हो !

•   •   •

संसार के बीच में,
संयमी वातावरण पैदा कर
साधना के शिखर पर
जो तेजस्वी गति से बढ़ रहा है,
वही है सच्चा साधु !
परम तत्त्व की खोज में
ज्ञान और क्रिया का अवलम्बन लेकर
आत्मा की पूर्ण शक्ति से दौड़ लगाने वाला
वही सच्चा साधु !
साधु अर्थात् समभाव का साधक
जिसकी साधना का अन्तिम लक्ष्य 'सिद्धत्व' हो
वही आदर्श-साधु !

•   •   •

आदर्श साधु

आत्म-दर्शन,
जिसके जीवन का नित्य रटन हो
रत्नत्रय का आचरण,
जिसका सच्चा साधन हो,
आत्म निर्झर में,
जिसका प्रतिदिन रमण हो।
और मुक्ति का स्वातन्त्र्य मन्दिर,
जिसका अन्तिम विश्राम-स्थल हो,
वही आदर्श साधु।

❀ ❀

आदर्श साधु
क्षमा की जीवित मूर्ति हो!
उसके हृदय में
क्रोध का कभी अंश भी न प्रकट हो।
चारों ओर से शान्ति और सरलता टपके।
क्षमा के मन्त्र पढ़कर
जो जगत में से आत्मक्षोभ का रोग हरने वाला
महान् धन्वन्तरि बने,
और जिसके सत्संग में
आत्मा की शोध करने की क्षुधा जागृत हो
वही आदर्श साधु।

❀ ❀ ❀

सुन्दर अप्सरा हो अथवा कुरूप कुब्जा हो,
दोनों ही जिसकी दृष्टि में केवल काठ की पुतली हैं।
कंचन और कामिनी का सच्चा त्यागी
लोभ और मोह के शस्त्र से बिंधे नहीं।

सम्राटों का भी सम्राट्
और चक्रवर्तियों का भी चक्रवर्ती
ऐसी विपुल आत्मसमृद्धि के
अक्षय कोष का एकमात्र स्वतन्त्र स्वामी
यही आदर्श साधु !

* * *

पाप के फल से नहीं
किन्तु पाप—वृत्ति से ही मुक्ति चाहता है !
दुरंगी दुनिया के शब्दों की अपेक्षा
आत्मा की अन्तर्ध्वनि को बहु मान देकर चलता है !
अपने उच्च और स्वतन्त्र विचारों से ही
नया युग नया वातावरण बनाता है !
अपने उच्च अध्यात्म और निष्पाप जीवन से ही
मानव समाज को जीवन का सच्चा मर्म बताता है !
यही आदर्श साधु !

* * *

संकटों से जो भागता नहीं है,
किन्तु संकटों की खोज करता है !
आध्यात्मिक शक्ति के बल से
संकट पर आधिपत्य स्थापित करता है !
जगत् के विष को खूब शान्तिपूर्वक पीकर
प्रसन्न मुख मुद्रा से अमृत की वृष्टि करता है !
'शठं[1] प्रति शाठ्यं कुर्यात्' के स्थान पर
'शठं प्रति मा कुर्यात्'[2] का मूल मंत्र लेकर

---

१ दुर्जन के प्रति दुर्जनता।
२ दुर्जन के प्रति भी सज्जनता।

पत्थर फेंकने वाले पर भी पुष्प वृष्टि करता है।
गाली देने वाले को भी आशीर्वाद देता है।
और
अपकार का बदला उपकार से देकर
अपनी पूर्ण भव्यता का दर्शन कराता है।
वही आदर्श साधु।

❀ ❀ ❀

जिसकी अहिंसापूर्ण दृष्टि जंगल में भी मंगल करे,
जहर को भी अमृत में बदल दे,
अर्थात् शत्रु को भी मित्र बनादे,
वही आदर्श साधु।

❀ ❀ ❀

पापी को नहीं,
किन्तु जो पापमय मनोदशा को धिक्कारता है,
जिसके धिक्कार में भी प्रेम हो,
जिसके धिक्कार में से भी स्नेह झरता हो,
जिसके स्नेह की शीतलता ऐसी प्रबल हो कि
पाप के धधकते दावानल को भी बुझा दे,
जिसके प्रेम का जादू ऐसा हो कि
पापी के कठोर अन्तर को भी पिघला दे,
वही आदर्श साधु।

['आदर्श साधु' के आधार पर]

जैन धर्म की प्राचीनता

जैन धर्म के आविर्भाव-सम्बन्धी काल का पता लगाने के लिए आज से नहीं सैंकड़ों वर्षों से विद्वानों की दौड़ धूप हो रही है। इस सम्बन्ध में विभिन्न धारणाएँ हैं, कोई कुछ कहता है तो कोई कुछ कहता है। कल्पनाओं के सहारे दौड़ने का कहीं निश्चित अन्त नहीं होता।

स्वामी दयानन्द जी और उनकी कोटि के बहुत से विद्वान् जैन धर्म को बौद्ध धर्म की शाखा समझते हैं और कहते हैं कि बौद्ध धर्म के कुछ दिनों बाद ही जैन धर्म उदय में आया। कुछ विद्वान् जैन धर्म को बौद्ध धर्म से स्वतंत्र धर्म तो मानते हैं परन्तु इसके मूल संस्थापक के रूप में अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व होनेवाले भगवान् महावीर को मानते हैं। कुछ लोग उनसे भी पूर्व होनेवाले तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ को जैन धर्म का आदि प्रवर्तक मानते हैं। हम यहाँ विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही उक्त सब भ्रान्तियों का निराकरण करके जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध करेंगे।

बौद्ध धर्म को जैन धर्म की शाखा कहना तो इतिहास की दृष्टि से बड़ी अज्ञानता है। बौद्ध साहित्य के अध्ययन करने से स्पष्टतः पता चलता है कि भगवान् बुद्ध के समय में जैन धर्म काफी ऊँचे गौरव पर था। भगवान् पार्श्वनाथ जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर हुए हैं, जिनका काल भगवान् महावीर स्वामी से करीब अढ़ाई सौ वर्ष पहले पड़ता है। इसका उल्लेख बौद्ध मूल ग्रन्थों में प्रायः बहुत से स्थानों में मिलता है। आज के बहुत से इतिहासकार भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि बुद्ध ने अपनी विचारधारा में बहुत सा अंश अपने से पहले होनेवाले भगवान् पार्श्वनाथ के धर्मचिन्तन से लिया है। यही कारण है कि जिन

श्रावक, भिक्षु आदि जैन परंपरा के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग बौद्ध-साहित्य में प्रचुरता से मिलता है।

भगवान् ऋषभदेव, वर्तमान कालचक्र में, जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर हुए हैं। आपके पिता का नाम नाभि और माताका नाम मरुदेवी था। आपके सब से बड़े पुत्र भरत चक्रवर्ती थे, जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारतवर्ष प्रख्यात हुआ। वैष्णव धर्म के महान् प्राचीन ग्रन्थ श्रीमद्भागवत में श्री ऋषभदेव का चरित्र बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है और कहा है कि श्री ऋषभदेव अर्हन् का अवतार रजोगुण व्याप्त मनुष्यों को मोक्षमार्ग सिखलाने के लिये हुआ।

'अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थः'

—भाग० स्कन्ध ५ अध्याय ६

भारतवर्ष के प्राचीन ग्रन्थों में ऋग्वेद का भी महत्वपूर्ण स्थान है। सर राधाकृष्णन् जैसे महान् दार्शनिक विद्वानों ने वेदों का गम्भीर अध्ययन किया है और उनको वहां श्री ऋषभदेव जी का वर्णन स्पष्ट उपलब्ध हुआ है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद पर ही सर्वप्रथम दृष्टिपात कीजिए —

आदित्या त्वगसि आदित्य सद आसीद,
अस्तभ्नादद्या वृषभो तरिक्ष जमिमीते वरिमाणम्।
पृथिव्या आसीत् विश्वा भुवनानि,
सम्राड् विश्वे तानि वरुणस्य वचनानि॥

—(ऋ० ३० अ० ३)

उक्त मंत्र का यह भावार्थ है—'तू अखण्ड पृथ्वी मण्डल का सार त्वचारूप है, पृथ्वीतल का भूषण है, दिव्य ज्ञान द्वारा आकाश को नापता है, हे ऋषभनाथ सम्राट् इस संसार में जगरक्षक व्रतों का प्रचार करो।'

पुराणों में शिवपुराण का एक विशिष्ट स्थान माना जाता है। भग

वान् ऋषभदेव का यहाँ भी अतीव गौरवपूर्ण उल्लेख है—

> कैलासे पर्वते रम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वरः ।
> चकार स्वावतारं च सर्वज्ञः सर्वगः शिवः ॥५९॥

अर्थात् 'विश्व का कल्याण करनेवाले सर्वज्ञ जिनेश्वर भगवान् ऋषभदेव कैलाश पर्वत पर मुक्ति को प्राप्त हुए।'

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि जिनेश्वर शब्द जैन तीर्थंकर एवं अरिहन्त के लिए ही रूढ़ है। जैन साहित्य कहता है कि भगवान् ऋषभदेव ने कैलाश पर्वत पर मोक्ष प्राप्त की।

भारतीय साहित्य में योगवाशिष्ठ एक महान् ग्रन्थ है। उक्त ग्रन्थ में भी वशिष्ठ जी ने रामचन्द्र जी को धर्मोपदेश दिया है। देखिए यहाँ कितना सुन्दर वर्णन मिलता है :—

> नाहं रामो न मे वाञ्छा भावेषु च न मे मनः ।
> शान्तिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥

राम कह रहे हैं कि मैं राम नहीं हूँ मुझे किसी वस्तु की चाह नहीं है। मेरी अभिलाषा तो यही है कि जिनेश्वरदेव की तरह अपनी आत्मा में शान्ति-लाभ प्राप्त करूँ।

ऊपर के उद्धरण से प्रमाणित होता है कि जैन धर्म तथा जैन तीर्थंकरों का अस्तित्व रामचन्द्र जी से भी पहले का है। इतिहासज्ञों की धारणा के अनुसार राम को हुए ११ लाख वर्ष हो चुके हैं।

भगवान् नेमिनाथ स्वामी जैन धर्म के २२वें तीर्थंकर हुए हैं। आप श्री कृष्णचन्द्र जी के चाचा के पुत्र भाई थे। यजुर्वेद में आपका उल्लेख इस प्रकार आया है—

> वाजस्यनु प्रसव आबभूवे
> मा च विश्वभुवनानि सर्वतः ।
> स नेमिराजा परियाति विद्वान्,
> प्रजा पुष्टिं वर्धमानो अस्मै स्वाहा ॥

—(अध्याय ९, मंत्र २५)

अर्थात्—भाव यज्ञ को प्रगट करने वाले, ससार के सब जीवों को सब प्रकार से यथार्थ उपदेश देने वा गे और जिनके उपदेश से जीवों की आत्मा बलवान् होती है, उन सर्वज्ञ नेमि नाथ के लिए आ ुति सम र्पित है।

अब अधिक विस्तार मे न जाकर संक्षेप मे आधुनिक विद्वानों के विचार भी अंकित किए देते हैं, ताकि जिज्ञासु पाठक निष्पक्ष पात दृष्टि से उचित निर्णय कर सकें।

प्राचीन इतिहास के सुप्रसिद्ध आचार्य प्राच्य विद्या महार्णव श्री नगेन्द्र नाथ जी बसु अपने हिन्दी विश्व कोष के प्रथम भाग में ६४ वें पृष्ठ पर लिखते हैं—

'ऋषभ देवने ही सभवत लिपि विद्या के लिए लिपि-कौशल का उद्भावन किया था। ऋषभ देवने ही सभवत ब्रह्म विद्या की शिक्षा के लिए उपयोगी ब्राह्मी लिपि का प्रचार किया था।'

लोकमान्य प० बाल गगाधर तिलक अपने केसरी समाचार पत्र में लिखते हैं—

'महावीर स्वामी जैन धर्म को पुन प्रकाश में लाए। इस बात को आज २४०० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। बौद्ध धर्म की स्थापना के पहले भी जैन धर्म भारत में फैला हुआ था, यह बात विश्वास करने योग्य है। चौबीस तीर्थंकरों में महावीर स्वामी अन्तिम तीर्थंकर थे, इससे भी जैन धर्म की प्राचीनता जानी जाती है।'

महामहोपाध्याय डाक्टर शतीश चन्द्र जी विद्या भूषण, प्रिंसिपल सस्कृत कालेज कलकत्ता कहते हैं—

'जैन धर्म तब से प्रचलित हुआ है, जब से ससार में सृष्टि का आरंभ हुआ है। मुझे इस में किसी प्रकार का उज्र नहीं है कि वह वेदान्त आदि दर्शनों से पूर्व का है।'

इतिहास शास्त्र के सुप्रसिद्ध अन्त र्राष्ट्रीय जर्मन विद्वान डा० हर्मन जे कोबी लिखते हैं—

जैन धर्म सर्वथा स्वतन्त्र धर्म है। मेरा विश्वास है कि वह किसी का अनुकरण नहीं है और इसीलिए प्राचीन भारतवर्ष के तत्त्व ज्ञान और धर्म पद्धति के अध्ययन करने वालों के लिए वह बड़े महत्त्व की चीज है।

स्वतंत्र भारत के प्रथम गवर्नर जनरल चक्रवर्ती राज गोपालाचार्य जी ने अपने एक प्रवचन में कहा है—

जैन धर्म प्राचीन है और उसका विश्वास अहिंसा में है।'

: १६ :

जैन-जीवन

जैन भूख से कम खाता है।
जैन बहुत कम बोलता है।
जैन व्यर्थ नहीं हँसता है।
जैन बड़ों की आज्ञा मानता है।
जैन सदा उद्यमशील रहता है।

जैन गरीबी से नहीं शर्माता।
जैन धन पर नहीं अकड़ता।
जैन किसी पर नहीं झुंझलाता।
जैन किसी से छल कपट नहीं करता।
जैन सत्य के समर्थन से नहीं डरता।

जैन हृदय से उदार होता है।
जैन हित मित मधुर बोलता है।
जैन सकट सहते हँसता है।
जैन अभ्युदय में नम्र रहता है।

अज्ञानी को ज्ञान देना मानवता है।
ज्ञान के साधन विद्यालय आदि खोलना मानवता है।
भूखे प्यासे को सन्तुष्ट करना मानवता है।
भूले हुए को मार्ग बताना मानवता है।

जहाँ विवेक होता है वहाँ प्रमाद नहीं होता।
जहाँ विवेक होता है वहाँ लोभ नहीं होता।

जहाँ विवेक होता है वहाँ स्वार्थ नहीं होता।
जहाँ विवेक होता है वहाँ अज्ञान नहीं होता।

प्रतिदिन विचार करो कि मन से क्या क्या दोष हुए हैं!
प्रतिदिन विचार करो कि वचन से क्या क्या दोष हुए हैं!
प्रतिदिन विचार करो कि शरीर से क्या क्या दोष हुए हैं!

सुख का मूल धर्म है।
धर्म का मूल दया है।
दया का मूल विवेक है।

विवेक से उठो।
विवेक से चलो।
विवेक से बोलो।
विवेक से खाओ।
विवेक से सब काम करो।

पहनने ओढ़ने में मर्यादा रखना।
चलने फिरने में मर्यादा रक्खो।
सोने बैठने में मर्यादा रक्खो।
बड़े छोटे की मर्यादा रक्खो।

मन से दूसरे का भला चाहना परोपकार है।
वचन से दूसरे को सुख पहुँचाना परोपकार है।
शरीर से दूसरे की सहायता करना परोपकार है।
धन से किसी का दुःख दूर करना परोपकार है।
भूखे प्यासे को सन्तुष्ट करना, परोपकार है।
भूले हुए को मार्ग बताना परोपकार है।
अज्ञानी को ज्ञान देना, या सिखाना परोपकार है।

ज्ञान के साधन विद्यालय आदि खोलना परोपकार है।
लोकहित करने वाले कामों में सहायता देना परोपकार है।

बिना परोपकार के जीवन निरर्थक है।
बिना परोपकार के दिन निरर्थक है।
जहाँ परोपकार नहीं, वहाँ धर्म नहीं।
परोपकार की जड़ कोमल हृदय है।
परोपकार कल करना तो आज करो।
बिना धन के भी परोपकार हो सकता है।
धन और शरीर का मोह परोपकार नहीं होने देता।

परोपकार करने के लिए धनी होने की राह देखे, वह मूर्ख है।
बदले की आशा से जो परोकार करे, वह मूर्ख है।
बिना स्नेह और प्रेम के परोपकार करे, वह मूर्ख है।

खाने पीने के लिए जीवन नहीं है,
किन्तु जीवन के लिए खाना पीना है।
धन के लिए जीवन नहीं है,
किन्तु जीवन के लिए धन है
धन से जितना अधिक मोह,
उतना ही पतन।
धन से जितना कम मोह,
उतना ही उत्थान

१७

हिंसा

किसी जीव को सताना हिंसा है।
झूठ बोलना हिंसा है।
दंभ करना धोखा देना हिंसा है।
चुगली खाना हिंसा है।
किसी का बुरा चाहना हिंसा है।
दुःखी होने पर घबराना हिंसा है।
सुख में फूल कर अकड़ना हिंसा है।
निंदा करना हिंसा है।
गालियाँ देना हिंसा है।
निकम्मी गप्पें मारना हिंसा है।
किसी पर कलंक लगाना हिंसा है।
झिड़कना भद्दा मजाक करना हिंसा है।
किसी पर अन्याय होते देख चुप होना हिंसा है।
शक्ति होने पर भी अन्याय को न रोकना हिंसा है।
आलस्य में पड़े रहना हिंसा है।
सत्कर्म से जी चुराना हिंसा है।
बाँट कर नहीं अकेले ही खाना हिंसा है।
इन्द्रियों का गुलाम रहना हिंसा है।
दबे हुए झगड़े को उखाड़ना हिंसा है।

किसी की गुप्त बात को प्रगट करना हिंसा है।

किसी को अछूत समझना हिंसा है।

शक्ति होते हुए सेवा न करना हिंसा है।

बड़ों की विनय न करना हिंसा है।

छोटों से प्रेम न रखना हिंसा है।

ठीक समय पर फर्ज अदा न करना हिंसा है।

सच्ची बात को किसी बुरे संकल्प से छिपाना हिंसा है।

दुनिया के जजाल में तन्मय रहना हिंसा है।

: १८ :

जैन संस्कृति की अमर देन

[अहिंसा]

जैन संस्कृति की संसार को जो सब से बड़ी देन है, वह अहिंसा है। अहिंसा का यह महान् विचार, जो आज विश्व की शान्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन समझा जाने लगा है, और जिस की अमोघ शक्ति के सम्मुख संसार की समस्त संहारक शक्तियां कुण्ठित होती दिखाई देने लगी हैं, एक दिन जैन संस्कृति के महान् उन्नायकों द्वारा ही हिंसा कांड में लगे हुए उन्मत्त संसार के सामने रक्खा गया था।

जैन संस्कृति का महान् सन्देश है कि कोई भी मनुष्य समाज से अलग पृथक रहकर अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। समाज में घुल मिल कर ही वह अपने जीवन का आनन्द उठा सकता है और दूसरे आस-पास के संगी साथियों को भी उठाने दे सकता है। जब यह निश्चित है कि व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता तब यह भी आवश्यक है कि वह अपने हृदय को उदार बनाए, विशाल बनाए, विराट बनाए और जिन लोगों से खुद को काम लेना है या जिन को देना है उनके हृदय में अपनी ओर से पूर्ण विश्वास पैदा करे। जब तक मनुष्य अपने पार्श्ववर्ती समाज में अपने पन का भाव पैदा न करेगा अर्थात् जब तक दूसरे लोग उस को अपना आदमी न समझेंगे और वह भी दूसरों को अपना आदमी न समझेगा तब तक समाज का कल्याण नहीं हो सकता। एक बार ही नहीं हजार बार कहा जा सकता है, कि नहीं हो सकता। (एक दूसरे का आपस में अविश्वास ही तबाही का कारण बना हुआ है।)

संसार में जो चारों ओर दुःख का हाहाकार है, वह प्रकृति की ओर से मिलने वाला तो मामूली सा ही है। यदि अधिक अन्तर्निरीक्षण किया

जाए तो प्रकृति दु ख की अपेक्षा हमारे सुख में ही अधिक सहायक है। वास्तव मे जो कुछ भी ऊपर का दु ख है, वह मनुष्य पर मनुष्य के द्वारा ही लादा हुआ है। यदि हर एक व्यक्ति अपनी ओर से दूसरो पर किए जाने वाले दु खों को हटा ले तो यह ससार आज ही नरक से स्वर्ग मे बदल सकता है।

जैन सस्कृति के महान् सस्कारक अन्तिम तीथ कर भगवान् महावीर ने तो राष्ट्रों में परस्पर होने वाले युद्धा का हल भी अहिंसा के द्वारा ही बतलाया है। उनका आदर्श है कि धर्म-प्रचार के द्वारा ही विश्व भर के प्रत्येक मनुष्य के हृदय मे यह जँचादो कि वह 'स्व' मे ही सन्तुष्ट रहे, 'पर' की ओर आकृष्ट होने का कभी भी प्रयत्न न करे। पर की ओर आकृष्ट होने का अर्थ है, दूसरा के सुख साधनों को देखकर लालायित हो जाना और उन्हें छीनने का दु साहस करना।

हाँ तो जब तक नदी अपने पाट मे प्रवाहित होती रहती है, तब तक उस से ससार को लाभ ही लाभ है, हानि कुछ भी नहीं। ज्यों हो वह अपनी सीमा से हटकर आस-पास के प्रदेश पर अधिकार जमाती है, बाढ का रूप धारण करती है, तो ससार में हाहाकार मच जाता है, प्रलय का दृश्य खड़ा हो जाता है। यही दशा मनुष्यों की है। जब तक सब के सब मनुष्य कपने-अपने 'स्व' में ही प्रवाहित रहते हैं, तब तक कुछ अशान्ति नहीं है, लड़ाई झगड़ा नहीं है। अशान्ति और सघर्ष का वातावरण वहीं पैदा होता है, जहाँ कि मनुष्य 'स्व' से बाहर फैलना शुरू करता है, दूसरों के अधिकारों को कुचलता है और दूसरों के जीवनोपयोगी साधनों पर कब्जा जमाने लगता है।

प्राचीन जैन साहित्य उठाकर आप देख सकते हैं कि भगवान् महा-वीर ने इस दिशा में बड़े स्तुत्य प्रयत्न किए हैं। वे अपने प्रत्येक गृहस्थ शिष्य को पाँचवें अपरिग्रह व्रत की मर्यादा में सर्वदा 'स्व' मे ही सीमित रहने की शिक्षा देते हैं। व्यापार, उद्योग आदि क्षेत्रों में उन्होंने अपने अनुयायियों को अपने न्याय प्राप्त अधिकारों से कभी भी आगे नहीं

बढ़ने दिया। मात्र अधिकारों से आगे बढ़ने का अर्थ है अपने दूसरे साथियों के साथ संघर्ष में उतरना।

जैन संस्कृति का अमर आदर्श है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी उचित आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही उचित साधना का सहारा लेकर उचित प्रयत्न करे। आवश्यकता से अधिक किसी भी सुख सामग्री का संग्रह कर रखना जैन संस्कृति में चोरी है। व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र क्यों लड़ते हैं? इसी अनुचित संग्रह वृत्ति के कारण। दूसरों के जीवन की जीवन के सुख साधनों की उपेक्षा कर के मनुष्य कभी भी सुख शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। अहिंसा के बीज अपरिग्रह वृत्ति में ही छुपे रह सकते हैं। एक अपेक्षा से कहें तो अहिंसा और अपरिग्रह वृत्ति दोनों पर्यायवाची शब्द हैं।

आत्म रक्षा के लिए उचित प्रतिकार के साधन जुटाना, जैन धर्म के विरुद्ध नहीं है। परन्तु आवश्यकता से अधिक मर्यादित एवं संगठित शक्ति, अवश्य ही संहार लीला का अभिनय करेगी अहिंसा को मरणोन्मुखी बनाएगी। अतएव आप आश्चर्य न करें कि पिछले कुछ वर्षों में भी शस्त्र संन्यास का आन्दोलन चल रहा था प्रत्येक राष्ट्र को सीमित युद्ध सामग्री रखने को कहा जा रहा था वह जैन तीर्थंकरों ने हजारों वर्ष पहले बताया था। आज जो काम कानून द्वारा पारस्परिक विधान के द्वारा किया जाता है, उन दिनों वह उपदेशों द्वारा किया जाता था। भगवान् महावीर ने बड़े बड़े राजाओं को जैन धर्म में दीक्षित किया था और उन्हें नियम दिया गया था कि वे राष्ट्र-रक्षा के काम में आने वाले शस्त्रों से अधिक संग्रह न करें। साधना का आधिक्य मनुष्य को उद्दण्ड बना देता है। प्रभुता की लालसा में आकर वह कहीं न कहीं किसी पर चढ़ दौड़ेगा और मानव संसार में युद्ध की आग भड़का देगा। इस दृष्टि से जैन धर्म हिंसा के मूल कारणों को उखाड़ने का प्रयत्न करता रहा है।

जैन तीर्थंकरों ने कभी भी युद्धों का समर्थन नहीं किया। कहीं

अनेक धर्माचार्य साम्राज्यवादी राजाओं के हाथों की कठपुतली बनकर युद्ध के समर्थन में लगते आए हैं, युद्ध में मरने वालों को स्वर्ग का लालच दिखाते आए हैं, राजा को परमेश्वर का अंश बताकर उसके लिए सब कुछ अर्पण कर देने का प्रचार करते आए हैं, वहाँ जैन तीर्थंकर इस सम्बन्ध में काफी कट्टर रहे हैं। "प्रश्न व्याकरण" और "भगवती" सूत्र युद्ध के विरोध में क्या कुछ कहते हैं। यदि थोड़ा सा कष्ट उठाकर देखने का प्रयत्न करेंगे तो बहुत कुछ युद्ध-विरोधी विचार-सामग्री प्राप्त कर सकेंगे। आप जानते हैं, मगधाधिपति अजातशत्रु कुणिक भगवान् महावीर का कितना अधिक उत्कृष्ट भक्त था। "औपपातिक सूत्र" में उसकी भक्ति का चित्र चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। प्रतिदिन भगवान् के कुशल- समाचार जानकर फिर अन्न जल ग्रहण करना, कितना उग्र नियम है। परन्तु वैशाली पर कुणिक द्वारा होने वाले आक्रमण का भगवान् ने जरा भी समर्थन नहीं किया। प्रत्युत नरक का अधिकारी बताकर उसके पाप—कर्मों का भंडाफोड़ कर दिया। अजातशत्रु इस पर रुष्ट भी हो जाता है, किन्तु भगवान् महावीर इस बात की कुछ भी परवाह नहीं करते। भला पूर्ण—अहिंसा के अवतार रोमांचकारी नर संहार का समर्थन कैसे कर सकते थे?

जैन तीर्थंकरों की अहिंसा का भाव आज की मान्यता के अनुसार निष्क्रियता रूप भी न था। वे अहिंसा का अर्थ प्रेम, परोपकार, विश्व-बन्धुत्व करते थे। स्वयं आनन्द से जीओ और दूसरों को जीने दो, जैन तीर्थंकरों का आदर्श यहीं तक सीमित न था। उनका आदर्श था—दूसरों के जीने में मदद करो। बल्कि अवसर आने पर दूसरों के जीवन की रक्षा के लिए अपने जीवन की आहुति भी दे डालो। वे उस जीवन को कोई महत्त्व न देते थे, जो जन सेवा के मार्ग से सर्वथा दूर रह कर एक मात्र भक्तिवाद के अर्थ--शून्य क्रिया—काण्डों में ही उलझा रहता हो।

भगवान् महावीर ने तो एक बार यहाँ तक कहा था कि मेरी सेवा करने की अपेक्षा दीन दुःखियों की सेवा करना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। मैं उनपर प्रसन्न नहीं जो मेरी भक्ति करते हैं माला फेरते हैं। मैं तो उन पर प्रसन्न हूँ जो मेरी आज्ञा का पालन करते हैं। मेरी आज्ञा है—प्राणिमात्र को सुख सुविधा और आराम पहुँचाना। भगवान् महावीर का यह महान् ज्योतिर्मय सन्देश आज भी हमारी आँखों के सामने है यदि हम थोड़ा बहुत अध्ययन करना चाहें। ऊपर के सन्देश का सूक्ष्म बीज यदि हममें से कोई देखना चाहे तो उत्तराध्ययन सूत्र की सर्वार्थ सिद्धि वृत्ति में देख सकता है।

अहिंसा के सर्वश्रेष्ठ सन्देशवाहक भगवान् महावीर हैं। आज दिन तक उन्हीं के अमर सन्देशों का गौरव गान गाया जा रहा है। आपको मालूम है? आज से ढाई हजार वर्ष पहले का समय भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक महान् अन्धकारपूर्ण युग माना जाता है। देवी देव ताओं के आगे पशुबलि के नाम पर रक्त की नदियाँ बहाई जाती थीं, मांसाहार और सुरापान का दौर चलता था। अस्पृश्यता के नाम पर करोड़ों की संख्या में मनुष्य अत्याचार की चक्की में पिस रहे थे। स्त्रियों को भी मनुष्योचित अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। एक क्या, अनेक रूपों में दंभ और हिंसा का विशाल साम्राज्य छाया हुआ था। भगवान् महावीर ने उस समय अहिंसा का अमृतमय सन्देश दिया, जिससे भारत की काया पलट हो गई। मनुष्य राक्षसी—भावों से हटकर मनुष्यता की सीमा में प्रविष्ट हुआ। क्या मनुष्य, क्या पशु, सबके प्रति उसके हृदय में प्रेम का सागर उमड़ पड़ा। अहिंसा के सन्देश ने सारे भारतीय सुधारों के मस्तक ऊँचे कर दिए। दुर्भाग्य से आज वे मस्तक फिर गिर रहे हैं। कल, परसों नहीं अभी अभी खून से रंगे जा चुके हैं, और भविष्य में इससे भी भयंकर रंगने की तैयारियाँ हो रही हैं। तीसरे महायुद्ध का दुःस्वप्न अभी देखना बंद नहीं हुआ है। यथावसर धर्म के

आविष्कार की सब देशों में होड़ लग रही है। सब ओर अविश्वास और दुर्भाव चक्कर काट रहे हैं। अस्तु आवश्यकता है, आज फिर जैन संस्कृति के, जैन तीर्थंकरों के, भगवान महावीर के, जैनाचार्यों के 'अहिंसा परमोधर्म' की। मानवजाति के स्थायी सुखों के स्वप्नों को एक मात्र अहिंसा ही पूर्ण कर सकती है, और नहीं। "अहिंसा भूताना जगति विदित ब्रह्म परमम्।"

: १६ :

जैनधर्म की आस्तिकता

मनुष्य जब साम्प्रदायिकता के रंग में रंग कर अपने मत का समर्थन और दूसरे मतों का खण्डन करने लगता है तब वह कभी कभी बहुत भयंकर रूप धारण कर लेता है। किसी विषय में मत-भेद होना उतना बुरा नहीं है जितना कि मतभेद का दुराग्रह रूप बुरा होता है। भारतवर्ष में यह साम्प्रदायिक मतभेद इतना उग्र, कटु, एवं विषाक्त हो गया है कि हमारी सम्पूर्ण राष्ट्रीय शक्ति, इसके कारण छिन्न भिन्न हो गई है।

हिन्दू मुसलमानों को म्लेच्छ कहते हैं, मुसलमान हिन्दुओं को काफिर कहते हैं, और वैष्णव सनातनी आदि जैन धर्म को नास्तिक कहते हैं। मतलब यह है कि जिसके मन में जो आता है, वही आँख मींचकर अपने विरोधी संप्रदाय को कह डालता है। इस बात का कुछ भी विचार नहीं किया जाता कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह कहाँ तक सत्य है? इसका क्या परिणाम निकलेगा? किसी पर मिथ्या दोषारोपण करना कहाँ तक मानवता संगत है?

आज हम इसी बात पर विचार करेंगे कि जैनधर्म को जो लोग नास्तिक-धर्म कहते हैं, वे सत्य का कहाँ तक सम्मान करते हैं? जैनधर्म पूर्ण आस्तिक धर्म है, उसे नास्तिक धर्म कहना सूर्य में कालिमा का धब्बा बताना है।

ब्राह्मण सम्प्रदाय जैनधर्म को नास्तिक क्यों कहने लगे? इसका भी एक इतिहास है। ब्राह्मण धर्म में जब यज्ञ याग आदि का प्रचार हुआ और धर्म के नाम पर दीन हीन मूक पशुओं का हनन आरम्भ हुआ तब भगवान महावीर ने इस अन्ध विश्वास का जोरदार खण्डन

किया। यज्ञ याग आदि के समर्थन में आधार-भूत ग्रन्थ वेद थे, अतः वेदों को भी अप्रामाणिक सिद्ध किया गया। इसपर ब्राह्मण सम्प्रदाय में बड़ा क्षोभ हुआ। जैनधर्म की अकाट्य तर्कों का तो कोई उत्तर दिया नहीं गया, केवल यह कहकर शोर मचाया जाने लगा कि जो वेदों को नहीं मानते हैं, जो वेदों की निन्दा करते हैं, वे नास्तिक हैं—"नास्तिको वेदनिन्दकः"—मनुस्मृति। तब से लेकर आजतक जैनधर्म पर यही निरर्गल आक्षेप लगाया जारहा है। तर्क का तर्क से उत्तर न देकर गाली गलौज करना, मतान्धता का परिचायक है।

कोई भी तटस्थ बुद्धिमान विचारक कह सकता है कि यह सत्य के निर्णय की कसौटी नहीं है। यह तो भठियारिनों की लड़ाई है, जो लड़ती हुई एक दूसरी को कहा करती हैं कि 'तू राड है, तू निपूती है, तू चुड़ैल है' आदि आदि। वैदिकधर्मावलम्बी जैनधर्म को वेदनिन्दक होने के कारण यदि नास्तिक कह सकते हैं, तो फिर जैनधर्म भी वैदिक धर्म को जैन निन्दक होने के कारण नास्तिक कह सकता है—'नास्तिको जैन निन्दकः।' परन्तु यह कोई अच्छा मार्ग नहीं है। यह कौनसा न्याय है कि ब्राह्मण-धर्म के ग्रन्थों को न मानने वाला नास्तिक कहलाए और जैनधर्म के ग्रन्थों को न मानने वाला नास्तिक न कहलाए। सच बात तो यह है कि कोई भी धर्म अपने से विरुद्ध किसी धर्म के ग्रन्थों को न मानने से ही नास्तिक नहीं कहला सकता। यदि ऐसा हो तो फिर सभी धर्म नास्तिक हो जायँगे। क्योंकि यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि एक धर्म, दूसरे धर्मों के ग्रन्थों का विरोधी है। दुःख है कि आज के प्रगतिशील युग में भी इन लचर दलीलों से काम लिया जारहा है और व्यर्थ ही सत्य की हत्या कर एक दूसरे धर्म को नास्तिक कहा जारहा है।

जैनधर्म को वेदों से कोई द्वेष नहीं है। वह किसी द्वेष वश वेदों की निन्दा नहीं करता है। जैनधर्म जैसा समभाव का पक्षपाती तो कोई दूसरा धर्म है ही नहीं। वह तो विरोधी से विरोधी के सत्य को भी मस्तक झुका कर स्वीकार करने के लिए तैयार है। आप कहेंगे, फिर

वेदों का क्यों विरोध किया जाता है? वेदों का विरोध इसलिए किया जाता है कि वेदों में हिंसामय अश्वमेध नरमेध, आदि यज्ञों का विधान है और जैनधर्म हिंसा का कट्टर प्रतिपक्षी है। फिर धर्म के नाम पर किये जाने वाले निरीह पशुओं का वध तो वह तलवारों की छाया के नीचे भी सहन नहीं कर सकता।

जैनधर्म को नास्तिक कहने के लिये आजकल एक और कारण बताया जाता है। यह कारण बिल्कुल ही बेसिर पैर का है। लोग कहते हैं कि जैनधर्म परमात्मा को नहीं मानता इसलिए नास्तिक है। हम पूछना चाहते हैं—लोगों को यह कहाँ से पता चला कि जैनधर्म परमात्मा को नहीं मानता। परमात्मा के सम्बन्ध में जैनधर्म की अपनी एक निश्चित परिभाषा है। जो आत्मा पाप पुण्य से सर्वथा रहित हो जन्म मरण से सर्वथा अलग हो केवल ज्ञान और केवल दर्शन का धारक हो न शरीर हो न इन्द्रियाँ हों न कर्म हों, न कर्मफल हों वह अजर, अमर, सिद्ध बुद्ध मुक्त आत्मा परमात्मा है। जैनधर्म इस प्रकार वीतराग परमात्मा को मानता है। वह प्रत्येक आत्मा में इसी परमात्म प्रकाश को छुपा हुआ देखता है और कहता है कि हर कोई साधक वीतराग भाव की उपासना के द्वारा परमात्मा का पद पा सकता है। अब बताइए जैनधर्म परमात्मा को कैसे नहीं मानता?

हमारे वैदिक धर्मावलम्बी मित्र कह सकते हैं कि—"परमात्मा का जैसा स्वरूप हम मानते हैं, वैसा जैनधर्म नहीं मानता इसलिए नास्तिक है। यह तर्क नहीं तर्क का दिवालियापन है। आस्तिक कहलाने वाले धर्म भी परमात्मा के सम्बन्ध में कहाँ एक मत हैं? मुसलमान खुदा का स्वरूप कुछ और ही बताते हैं ईसाई कुछ और ही कहते हैं वैदिक धर्म में भी सनातनियों का ईश्वर और है तथा आर्यसमाज का ईश्वर और है। सनातनियों का ईश्वर अवतार धारण कर सकता है परन्तु आर्यसमाज का ईश्वर अवतार धारण नहीं कर सकता। अब कहिए कौन आस्तिक है और कौन नास्तिक? केवल परमात्मा को मानने

भर से आस्तिक हैं, तो जैनधर्म भी अपनी परिभाषा के अनुसार परमात्मा को मानता है, अत आस्तिक है।

आजकल के कुछ विद्वान यह कहते हैं कि जैन लोग परमात्मा को जगत् का कर्ता नही मानते, इसलिए नास्तिक हैं। यह तर्क भी ऊपर के समान व्यर्थ है। जब परमात्मा वीतराग है, राग द्वेष से रहित है, तब वह, जगत् का, उस जगत का, जो आधि व्याधि के दु खों से परिपूर्ण है, क्यों निर्माण करे? जगत की रचना में वीतराग भाव सुरक्षित नहीं रह सकता। और बिना शरीर के निर्माण होगा भी कैसे? अस्तु परमात्मा में जगत्कर्तृत्व धर्म है ही नही। होने पर ही तो माना जाय। मनुष्य के पख नही हैं। कल यदि कोई यह कहे कि मनुष्य के पख होना मानों, नही तो तुम नास्तिक हो—यह भी अच्छी बला है। इस प्रकार तो सत्य का गला ही घोट दिया जायगा।

खेद है कि वैदिक सप्रदाय में मीमांसा, साख्य और वैशेषिक आदि दर्शन कट्टर निरीश्वरवादी दर्शन हैं। जगत्कर्ता तो क्या, ईश्वर का अस्तित्व तक नहीं स्वीकार करते। फिर भी वे आस्तिक हैं। और जैन धर्म अपनी परिभाषा के अनुसार परमात्मा को मानता हुआ भी नास्तिक है। यह केवल अपने मत के प्रति मिथ्या प्रेम और दूसरे धर्म के प्रति मिथ्या द्वेष नही तो क्या है?

शब्दों के वास्तविक अर्थ का निर्णय व्याकरण से होता है। शब्दों के सम्बन्ध में व्याकरण ही विद्वानों को मान्य होता है, मन कल्पना नही। आस्तिक नास्तिक शब्द सस्कृत भाषा के हैं, अत आइए, किसी प्रसिद्ध सस्कृत व्याकरण को टटोलें। लीजिए, पाणिनीय व्याकरण है। यह व्याकरण जैन संप्रदाय का नही, वैदिक सप्रदाय का ही है। महर्षि पाणिनि कितना अच्छा पक्षपात शून्य निर्णय करते हैं। अष्टाध्यायी ग्रन्थ के चौथे अध्याय, चौथे पाद में साठवाँ सूत्र है—'अस्ति नास्ति दिष्ट मति ।४।४।६०।" भट्टोजी दीक्षित ने इसका अपनी सिद्धान्त

कौमुदी में अर्थ किया है—"अस्ति परलोक इत्येवं मतिर्यस्य स आस्तिकः। नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः।" इस संस्कृत अर्थ का हिन्दी अर्थ यह है कि—"जो परलोक को मानता है, वह आस्तिक है। और जो परलोक को नहीं मानता है, वह नास्तिक है।"

अब कोई भी विचारक देख सकता है कि व्याकरण क्या कहता है और हमारे ये हठाग्रही मित्र क्या कहते हैं! जैनधर्म परलोक को मानता है, पुनर्जन्म को मानता है, पाप-पुण्य को मानता है, स्वर्ग नरक मोक्ष को मानता है, फिर उसे नास्तिक कहने का दुःसाहस कौन कर सकता है! जिस धर्म में कदम कदम पर अहिंसा और करुणा की गंगा बह रही हो, जिस धर्म में सत्य और सदाचार के लिए सर्वस्व त्याग कर कठोर साधना का मार्ग अपनाया जा रहा हो, जिस धर्म में परम वीतराग भगवान महावीर जैसे महापुरुषों की विश्वकल्याणकारी वाणी का अमर स्वर गूँज रहा हो, वह धर्म स्वप्न में भी नास्तिक नहीं हो सकता। यदि इतने पर भी जैन धर्म को नास्तिक कहा जाता है, तब तो संसार का एक भी धर्म आस्तिक न कहला सकेगा।

: २० :

विभिन्न दर्शनों का समन्वय

[कारणवाद]

भारतवर्ष में दार्शनिक विचारधारा का जितना विकाश हुआ है, उतना अन्यत्र नहीं हुआ। भारतवर्ष दर्शन की जन्मभूमि है। यहाँ भिन्न-भिन्न दर्शनों के भिन्न-भिन्न विचार बिना किसी प्रतिबन्ध और नियत्रण के फूलते-फलते रहे हैं। यदि भारत के सभी पुराने दर्शनों का परिचय दिया जाय तो एक बहुत विस्तृत ग्रन्थ हो जाय। अत यहाँ विस्तार मे न जाकर सक्षेप मे ही भारत के बहुत पुराने पाच दार्शनिक विचारों का परिचय दिया जाता है। भगवान् महावीर के समय में भी इन दर्शनो का अस्तित्व था। और आज भी बहुत से लोग इन दर्शनों के विचार रखते हैं।

पहले हा लबी चर्चा में उतर जाने से तुम्हें जरा कष्ट होगा, अत सर्वप्रथम तुम्हें पाँचा के नाम बता दूँ तो अच्छा रहेगा न? पाँचों के नाम इस प्रकार हैं—(१) कालवाद, (२) स्वभाववाद, (३) कर्मवाद, (४) पुरुषार्थवाद, (५) और नियतिवाद। इन पाँचों दर्शनो का आपस में भयकर सघर्ष है और प्रत्येक परस्पर में एक दूसरे का खण्डन कर केवल अपने ही द्वारा कार्यसिद्धि होने का दावा करता है।

[१] कालवाद का दर्शन बहुत पुराना है। वह काल को ही सब से बड़ा महत्त्व देता है। कालवाद का कहना है कि ससार मे जो कुछ भी कार्य हो रहे हैं सब काल के प्रभाव से ही हो रहे हैं। काल के बिना स्वभाव, कर्म, पुरुषार्थ और नियति कुछ भी नहीं कर सकते। एक व्यक्ति पाप या पुण्य का कार्य करता है, परन्तु उसी समय उसका फल नहीं मिलता। समय आने पर ही अच्छा बुरा फल प्राप्त होता है। एक बच्चा आज जन्म लेता है। आप उसे कितना ही चलाइए, वह चल नहीं

सकता। कितना ही फुसलाइए, बोल नहीं सकता। समय आने पर ही बोलेगा और बोलेगा। जो बालक आज सेरभर का पत्थर नहीं उठा सकता वह कालपरिपाक के बाद युवा होने पर मनभर पत्थर को अधर उठा लेता है। आम का वृक्ष आज बोया है, क्या आज ही मधुर फलों का रसास्वादन कर सकते हैं? वर्षों के बाद कहीं आम्रफल के दर्शन होंगे। ग्रीष्म ऋतु में ही सूर्य तपता है, शीतकाल में ही शीत पड़ता है। युवावस्था में ही पुरुष के दाढ़ी मूँछ आती हैं। मनुष्य स्वयं कुछ नहीं कर सकता। समय आने पर ही सब काम होते हैं। काल की बड़ी महिमा है।

(२) स्वभाववाद का दर्शन भी कुछ कम वजनदार नहीं है। वह भी अपने समर्थन में बड़े अच्छे तर्क उपस्थित करता है। स्वभाववाद का कहना है कि संसार में जो कुछ भी कार्य हो रहे हैं सब वस्तुओं के अपने स्वभाव के प्रभाव से ही हो रहे हैं। स्वभाव के बिना काल, कर्म, नियति आदि कुछ भी नहीं कर सकते। आम की गुठली में आम का वृक्ष होने का स्वभाव है, इसी कारण माली का पुरुषार्थ सफल होता है, और समय पर वृक्ष तैयार हो जाता है। यदि काल ही सब कुछ कर सकता है तो क्या निबौली से आम का वृक्ष उत्पन्न कर सकता है? कभी नहीं। स्वभाव का बदलना बड़ा कठिन काम है। कठिन क्या असम्भव काम है। नीम के वृक्ष को गुड़ और घी से सींचते रहिए, क्या वह मधुर हो सकता है? दही बिलोने से ही मक्खन निकलता है पानी से नहीं; क्योंकि दही में ही मक्खन देने का स्वभाव है। अग्नि का स्वभाव गर्म है, जल का स्वभाव शीतल है। सूर्य का स्वभाव दिन करना है और तारों का स्वभाव रात करना है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव के अनुसार कार्य कर रही है। स्वभाव के समक्ष बिचारे काल आदि क्या कर सकते हैं?

(३) कर्मवाद का दर्शन तो भारतवर्ष में बहुत नामी गिरामी दर्शन है। यह एक प्रबल दार्शनिक विचारधारा है। कर्मवाद का कहना है कि काल, स्वभाव, पुरुषार्थ आदि सब नगण्य हैं। संसार में सर्वत्र कर्म का

ही एकछत्र साम्राज्य है। देखिए—एक माता के उदर से एक साथ दो बालक जन्म लेते हैं, उनमें एक बुद्धिमान् होता है, दूसरा मूर्ख। ऊपर का वातावरण रग-ढग एक होने पर भी यह भेद क्यों है ? इस भेद का कारण कर्म है। एक रिकसा में बैठने वाला है तो दूसरा उसे पशु की तरह खींचने वाला है। मनुष्य के नाते बराबर होने पर भी कर्म के कारण से भेद है। बड़े-बड़े बुद्धिमान् चतुर पुरुष भूखों मरते हैं, और वज्र मूर्ख गद्दी तकियों के सहारे सेठ बनकर आराम करते हैं। एक को माँगने पर भीख भी नही मिलती, दूसरा रोज हजार बारह सौ खर्च कर डालता है। एक के तन पर कपड़े के नाम पर चिथड़े भी नही हैं, और दूसरे के यहाँ कुत्ते भी मखमल के गद्दों पर लेट लगाते हैं। यह सब क्या है, अपने अपने कर्म हैं। राजा को रक, और रक को राजा बनाना, कर्म के बाएँ हाथ का खेल है। तभी तो एक विद्वान् ने कहा है—'गहना कर्मणो गति ।' अर्थात् कर्म की गति बड़ी गहन है।

(४) पुरुषार्थवाद का भी ससार में कम महत्त्व नही है। यह ठीक है कि जनता ने पुरुषार्थवाद के दर्शन को अभी तक अच्छी तरह नही समझा है और उसने कर्म, स्वभाव तथा काल आदि को ही अधिक महत्त्व दिया है। परन्तु पुरुषार्थवाद का कहना है कि बिना पुरुषार्थ के ससार का एक भी कार्य सफल नहीं हो सकता। ससार में जहाँ कही भी जो भी कार्य होता देखा जाता है, उसके मूल मे कर्ता का अपना पुरुषार्थ ही छिपा हुआ होता है। काल कहता है कि समय आने पर ही सब कार्य होता है। परन्तु उस समय में भी यदि पुरुषार्थ न हो तो क्या कार्य हो जायगा ? आम की गुठली में आम पैदा करने का स्वभाव है, परन्तु क्या बिना पुरुषार्थ के यो हो कोठे मे रक्खी हुई गुठली मे से आम का पेड़ लग जायगा ? कर्म का फल भी क्या बिना पुरुषार्थ के यों ही हाथ पर हाथ धरकर बैठे हुए मिल जायगा ? ससार में मनुष्य ने जो भी उन्नति की है, वह अपने प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा ही की है। आज का मनुष्य हवा में उड़ रहा है, जल में तैर रहा है, पहाड़ों को काट

पड़ा है परमाणु बम जैसे महान् आविष्कारों को तैयार करने में सफल हो रहा है, यह सब मनुष्य का अपना पुरुषार्थ नहीं तो क्या है? एक मनुष्य भूखा है कई दिन का भूखा है। कोई दयालु सज्जन मिठाई का थाल भरकर सामने रख देता है, वह नहीं खाता है। मिठाई लेकर मुँह में डाल देता है, फिर भी नहीं चबाता है और गले से नीचे नहीं उतारता है। अब कहिए बिना पुरुषार्थ के क्या होगा? क्या यों ही भूख बुझ जायगी? आखिर मुँह में डाली हुई मिठाई को चबाने का और चबाकर गले से नीचे उतारने का पुरुषार्थ तो करना ही होगा। सोते हुए सिंह के मुख में अपने आप हिरन आकर नहीं पड़ते हैं। तभी कहा है— 'पुरुष हो पुरुषार्थ करो उठो।"

(५) नियतिवाद का दर्शन बड़ा गंभीर है। प्रकृति के अटल नियम को नियति कहते हैं। नियतिवाद का कहना है कि—संसार में जितने भी काम होते हैं, सब नियति के अधीन ही होते हैं। सूर्य पूर्व में ही उदय होता है पश्चिम में क्यों नहीं? कमल जल में ही उत्पन्न हो सकता है शिला पर क्यों नहीं? पक्षी आकाश में उड़ सकते हैं गधे घोड़े क्यों नहीं? हंस श्वेत क्यों है? कोयल काली क्यों है? पशु के चार पैर होते हैं मनुष्य के दो ही क्या है? अग्नि की ज्वाला जलते ही ऊपर को क्या जाती है? इन सब प्रश्नों का उत्तर केवल यही है कि प्रकृति का नियम है, वह अन्यथा नहीं हो सकता। यदि वह अन्यथा होने लगे तो फिर संसार में प्रलय ही हो जाय। सूर्य पश्चिम म उगने लगे अग्नि शीतल हो जाय गधे घोड़े आकाश में उड़ने लगें तो फिर संसार में कोई व्यवस्था ही न रहे। नियति के अटल सिद्धान्त के समक्ष अन्य सब सिद्धान्त तुच्छ हैं। कोई भी व्यक्ति प्रकृति के अटल नियमों के प्रतिकूल नहीं जा सकता। अतः नियति ही सब से महान् है। [कुछ आचार्य नियति का अर्थ होनहार भी करते हैं]।

तुमने देखा उपर्युक्त पाँचों वाद किस प्रकार अपने आपको तानते हैं और दूसरे का खण्डन करते हैं। इस खण्डन-मण्डन के कारण साधा

रण जनता में बहुत भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गई हैं। वह सत्य के मूल मर्म को समझने में असमर्थ है। भगवान महावीर ने इस संघर्ष की समस्या को बड़ी अच्छी तरह सुलझाया है। संसार के सामने भगवान् ने वह बात रक्खी है, जो पूर्णतया सत्य पर आधारित है।

भगवान् महावीर का कहना है कि पाँचों ही वाद अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं। संसार में जो भी कार्य होता है, वह इन पाँचों के समवाय से अर्थात् मेल से ही होता है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि एक ही अपने बल पर कार्य सिद्ध कर दे। बुद्धिमान् मनुष्य को आग्रह छोड़कर सब का समन्वय करना चाहिए। बिना समन्वय किए, कार्य में सफलता की आशा रखना दुराशा मात्र है। यह हो सकता है कि किसी कार्य में कोई एक प्रधान हो और दूसरे सब कुछ गौण हों। परन्तु यह नहीं हो सकता कि कोई एक स्वतन्त्र रूप से कार्य सिद्ध कर दे।

भगवान् महावीर का उपदेश पूर्णतया सत्य है। हम इसे समझने के लिए आम बोने वाले माली का उदाहरण ले सकते हैं। माली बाग में आम की गुठली बोता है, यहाँ पाँचों कारणों के समन्वय से ही वृक्ष होगा। आम की गुठली में आम पैदा करने का स्वभाव है, परन्तु बोने का और बोकर रक्षा करने का पुरुषार्थ न हो तो क्या होगा? बोने का पुरुषार्थ भी कर लिया, परन्तु बिना निश्चित काल का परिपाक हुए आम यों ही जल्दी थोड़ा ही तैयार हो जायगा। काल की मर्यादा पूरी होने पर भी यदि शुभ कर्म अनुकूल नहीं है, तो फिर भी आम नहीं लगने का। कभी कभी किनारे आया हुआ जहाज भी डूब जाता है। अब रही, नियति। वह तो सब कुछ है ही। आम से आम होना प्रकृति का नियम है, इसमें कौन इन्कार कर सकता है?

पढ़ने वाले विद्यार्थी के लिए भी पाँचों आवश्यक हैं। पढ़ने के लिए चित्त की एकाग्रता रूप स्वभाव हो, समय का योग भी दिया जाय, पुरुषार्थ यानी प्रयत्न भी किया जाय, अशुभ कर्म का क्षय तथा शुभ

: २१ :

ईश्वर जगत्कर्ता नहीं

ससार में वैदिक, मुसलमान और ईसाई आदि धर्म ईश्वर को जगत् का कर्ता हर्ता मानते हैं। यद्यपि जगत के बनाने की प्रक्रिया में परस्पर काफी मत भेद हैं, परन्तु जहाँ ईश्वर को जगत कर्ता बताने का विवाद होता है, वहाँ सब एकमत होजाते हैं।

परन्तु जैन धर्म का मार्ग इन सबसे भिन्न है। वह जगत् को अनादि अनन्त मानता है। उसका विश्वास है कि जगत् न कभी बनकर तैयार हुआ और न कभी यह नष्ट ही होगा। पदार्थों के रूप बदल जाते हैं, परन्तु मूलत किसी भी पदार्थ का नाश नहीं होता। इसी सिद्धान्त के आधार पर जगत का रूप बदल जाता है, समुद्रकी जगह स्थल और स्थल की जगह समुद्र होजाता है, उजड़े हुए भूखण्ड जनाकीर्ण होजाते हैं और जनाकीर्ण देश बिलकुल ऊजड़ सुनसान बन जाते हैं। खण्ड प्रलय होती रहती है, परन्तु महा प्रलय होकर सब कुछ लुप्त हो जायगा, और फिर नये सिरे से जगत का निर्माण होगा—यह कथमपि सम्भव नहीं है।

तथापि हमारे बहुत से साथी जगत का उत्पन्न होना मानते हैं, उन्हें यह विश्वास ही नहीं आता कि बिना बनाए भी कोई चीज अस्तित्व रख सकती है। अतएव वे कहते हैं कि 'जगत का बनाने वाला ईश्वर है।' इस पर जैन दर्शन पूछना चाहता है कि क्या कोई भी पदार्थ बिना बनाए अपना अस्तित्व नहीं रख सकता ? यदि नहीं रख सकता तो फिर ईश्वर का अस्तित्व किस प्रकार है ? उसे किसने बनाया ? यदि ईश्वर को किसी ने नहीं बनाया, फिर भी वह अपने आप ही अनादि अनन्त काल से अपना अस्तित्व रख सकता है, तो इसी प्रकार जगत भी अपने अस्तित्व में किसी

प्रशासक की अपेक्षा नहीं रखता। वह भी ईश्वर के समान बिना किसी निर्माता के स्वतः सिद्ध है।

ईश्वर निराकार है। वह कोई हाथ पैर वाला शरीर नहीं रखता। इस पर जैन दर्शन का तर्क है कि बिना शरीर के, बिना हाथ पैर के वह जगत कैसे बना सकता है? हम देखते हैं कि कुम्हार सुनार आदि कर्ता हाथ आदि से ही वस्तु का निर्माण करते हैं। कोई भी कर्ता बिना शरीर के क्या कर सकेगा?

मुसलमान कहते हैं कि खुदा शब्द से जगत पैदा करता है। खुदा ने कुन कहा और दुनिया बन कर तैयार होगई। हम पूछते हैं—'क्या खुदा के शरीर है? क्या खुदा के जबान है? क्या खुदा के मुँह है?' मुसलमान भाई कहते हैं कि 'खुदा के शरीर, मुंह जबान आदि कुछ नहीं है।' हम आश्चर्य में हैं कि जब मुँह ही नहीं है जबान ही नहीं है तो फिर कुन कहा कैसे? शब्द के लिए तो मुंह की आवश्यकता है। दूसरी ओर जगत के रूप में रूपान्तरित होने वाले परमाणु तो जड़ हैं, बिना कान के हैं। उन्होंने खुदा की आज्ञा को सुना भी कैसे? और यदि वह बोल सकता है तो अब क्यों नहीं बोलता? आज प्रार्थना करते करते लोग पागल हुए जा रहे हैं और वह बोलता ही नहीं। यदि वह बोल पड़े तो आज ही हजारों नास्तिक आस्तिक होजायें। कितना बड़ा धर्म और परोपकार का काम होगा। क्या यह ईश्वर को पसन्द नहीं?

आज कल हमारे वैदिक धर्म की शाखा वाले सनातनी और आर्य समाजी बन्धु मानते हैं कि ईश्वर ने इच्छा-मात्र से जगत का निर्माण कर दिया। परमात्मा को ज्यों ही इच्छा पैदा हुई कि दुनिया तैयार हो, त्यों ही पहाड़, चाँद, सूर्य आदि, भूमि और समुद्र आदि बनकर तैयार हो गए। जैन दर्शन इस पर भी तर्क करता है कि ईश्वर के मन तो है नहीं, फिर वह इच्छा कैसे कर सकता है? इच्छा किसी प्रयोजन के लिए होती है। जगत के बनाने में ईश्वर का क्या प्रयोजन है? ईश्वर दयालु है, परम पिता है। फिर यह सिंह सर्प आदि दुष्ट हिंसक पशुओं से भरे हुए

रोग, शोक, द्रोह, दुर्व्यसन से घिरे हुए, चोरी जोरी हत्या आदि अपराधों से व्याप्त दुःखपूर्ण संसार के बनाने की इच्छा कैसे कर सकता है ? आप कहेंगे--'यह ईश्वर की लीला है।' भला यह लीला कैसी है ? विचारे संसारी जीव रोग शोक आदि से भयङ्कर त्रास पाएँ, अकाल और बाढ़ आदि के समय नरक जैसा हाहाकार मच जाए ! और वह ईश्वर, यह सब अपनी लीला करे ? कोई भी भला आदमी इस पिशाच-लीला के लिए तैयार नहीं हो सकता ! यदि परमात्मा दयालु होकर संसार का निर्माण करता, तो वह दीन दुखी और दुराचारी जीवों को क्यों पैदा करता ? आज जिसे दुखी देखकर हमारा हृदय भी भर आता है, उसे बनाते समय और इस दुःखद परिस्थिति में रखते समय यदि ईश्वर को दया नहीं आई, तो उसे हम दयालु कैसे कह सकते हैं ?

सनातन धर्म में कहा जाता है कि जब संसार में पापी और दुराचारी बढ़ जाते हैं, तो वह उनका नाश करने के लिए अवतार धारण करता है। आर्य-समाजी बन्धु भी यह मानते हैं कि ईश्वर अवतार तो नहीं धारण करता, परन्तु दुष्टों को दण्ड अवश्य देता है। जैन दर्शन पूछता है कि ईश्वर तो सर्वज्ञ है। वह जानता ही है कि ये पापी और दुराचारी बनकर मेरी सृष्टि को तंग करेंगे, फिर उन्हें बनाता ही क्यों है ? जहर का वृक्ष पहले लगाना, और फिर उसे काटना—कहाँ की बुद्धिमत्ता है ? कोई भी बुद्धिमान मनुष्य यह नहीं करेगा कि पहले व्यर्थ ही कीचड़ में वस्त्र खराब करे और फिर उसे धोवे।

दूसरी बात इस सम्बन्ध में यह है कि—क्या वे पापी ईश्वर से भी बढ़कर बलवान हैं ? क्या ईश्वर उनको दुराचार करने से रोक नहीं सकता ? जो ईश्वर इच्छा मात्र से इतना बड़ा विराट जगत बना सकता है, क्या वह अपनी प्रजा को दुराचारी से सदाचारी नहीं बना सकता ? यदि वह कुछ भी दया रखता होता तो अवश्य ही अपनी शक्ति का उपयोग दुष्टों को सज्जन बनाने में करता। यह कहाँ का न्याय है कि पाप करते समय तो अपराधियों को रोकना नहीं। परन्तु बाद में उन्हें दण्ड देना,

नष्ट करता। उस सर्व शक्तिमान ने जीवों को पहले दुराचार करने की बुद्धि ही क्यों उत्पन्न होने दी? आप कहेंगे—ईश्वर ने जीवों को कर्म करने में स्वतंत्रता दे रक्खी है अतः वह नहीं रोक सकता। अरे भाई, यह भी क्या स्वतंत्रता है? सदाचार के लिए स्वतंत्रता होती है, या पापाचार के लिए? क्या कोई न्यायी प्रजावत्सल राजा ऐसा करेगा कि पहले तो अपनी प्रजा को स्वतंत्र रूप से जान बूझकर चोरी और दुराचार करने दे, और फिर उन्हें दण्ड दे कि तुमने चोरी क्यों की? आज के प्रगतिशील युग में तो इस प्रकार का कुबुद्धि राजा एक दिन भी गद्दी पर नहीं रह सकता। पता नहीं ईश्वर को इस प्रकार कुबुद्धि राजा के पद पर बिठाने में हमारे ईश्वर-प्रेमियों का क्या स्वार्थ है?

ईश्वर राग और द्वेष से सर्वथा रहित है। जब वह रागद्वेष से सर्वथा रहित है, तो संसार बनाने की झंझट में क्यों पड़ता है? रागद्वेष-रहित वीतराग पुरुष सृष्टि के बनाने और बिगाड़ने के खेल में पड़ना कभी पसन्द नहीं कर सकता। संसार की रचना में तो पग-पग पर रागद्वेष का सामना करना पड़ेगा। किसी को सुखी बनाना होगा किसी को दुःखी। किसी को धनी बनाना होगा किसी को निर्धन। किसी को अमरपुरी जैसी स्वर्ग भूमि रहने को देना किसी को जलता हुआ नरक स्थान। बिना रागद्वेष के यह भेद-बुद्धि कैसे होगी?

यदि आप यह कहें कि वह अपनी इच्छा से नहीं करता। हम पूछते हैं—फिर किसकी इच्छा से करता है? यदि किसी दूसरे की इच्छा से जबर्दस्ती ईश्वर को इस नीरस कार्य में संलग्न होना पड़ता है तो फिर वह बिचारा ईश्वर ही काहे का रहा? अब तो वह जबर्दस्ती काम कराने वाली शक्ति ही ईश्वर बन जायगी? दूसरी बात यह है कि ईश्वर कृतकृत्य है। कृतकृत्य उसे कहते हैं, जिसे कोई कार्य करना शेष न रहा हो। यदि संसार के कार्य ईश्वर को ही करने हैं तो वह कृतकृत्य नहीं रह सकता। वह भी फिर संसारी जीवों के समान ही उलझन में पड़ा रहने वाला साधारण प्राणी हो जायगा।

आप यहाँ फिर वही पुराना तर्क उपस्थित करेंगे कि—'ईश्वर स्वयं कार्य नहीं करता। वह तो जीवों का जैसा कर्म होता है, उसी के अनुसार फल देने आदि का कार्य करता है।' यह तर्क मूर्खों को बहकाने वाला हो सकता है। परन्तु जरा भी बुद्धि से काम लिया जाय, तो तर्क की निःसारता अपने आप सब पर प्रगट होजाती है। यहाँ एक सुन्दर उदाहरण देकर हम इस तर्क का खण्डन करेंगे।

एक धनी आदमी है। उसने कुछ ऐसा कर्म किया कि जिस का फल उसका धन अपहरण होने से मिल सकता है। ईश्वर स्वयं तो उसका धन चुराने के लिए आता नहीं। अब किससे चुराए? हाँ, तो किसी चोर के द्वारा उसका धन चुराता है। ऐसी स्थिति में, जब कि एक चोर ने एक धनी का धन चुराया तो क्या हुआ? कोई भी विचारक उत्तर दे सकता है कि इस धनापहरण क्रिया से धनी को तो पूर्वकृत कर्म का फल मिला और चोर ने नवीन कर्म किया। इस नवीन कर्म का फल ईश्वर ने राजा के द्वारा चोर को जेल पहुँचा कर दिलवाया। अब बताइए कि चोर ने जो धनी का धन चुराने की चेष्टा की, वह अपनी स्वतन्त्रता से की? अथवा ईश्वर की प्रेरणा से की? यदि स्वतन्त्रता से की है और इसमें ईश्वर की कुछ भी प्रेरणा नहीं है, तो फिर धनी को जो कर्म का फल मिला, वह अपने आप मिला, ईश्वर का दिया हुआ नहीं मिला। यदि ईश्वर की प्रेरणा से चोर ने धन चुराया तो वह स्वयं कर्म करने में स्वतंत्र नहीं रहा, निर्दोष हुआ। अब जो ईश्वर राजा के द्वारा चोर को चोरी का दण्ड दिलवाता है, वह किस न्याय के आधार पर दिलवाता है? पहले तो स्वयं चोरी करवाना और फिर स्वयंही उसको दण्ड दिलवाना, यह किस दुनिया का न्याय है?

यह एक उदाहरण है। इस उदाहरण पर से ही विवाद का निर्णय हो जाता है। यदि ईश्वर को संसार की खट-पट में पड़ने वाला और कर्म फल का देने वाला मानेंगे, तो संसार में जितने भी अत्याचार दुराचार होते हैं, उन सबका करने वाला ईश्वर ही ठहरेगा। इसके लिए

प्रश्न प्रमाण यह है कि जितने भी कर्म-फल मिल रहे हैं, उन के पीछे ईश्वर का हाथ है। और फिर यह अच्छा तमाशा होता है कि अपराधी ईश्वर और दण्ड भोगे जीव !

जैन-धर्म परमात्मा को जगत का कर्ता और कर्म-फल का दाता नहीं मानता है। इस पर हमारे बहुत से मित्र भी यह प्रश्न करते हैं कि—यदि परमात्मा हमें सुख दुःख नहीं देता तो उसकी भक्ति करने की क्या आवश्यकता है ? जो हमारे काम ही नहीं आता उसकी भक्ति से आखिर कुछ लाभ ? जैनधर्म उत्तर देता है कि—क्या भक्ति का अर्थ काम करवाना ही है। परमात्मा को मजदूर बनाए बिना भक्ति हो ही नहीं सकती। यह भक्ति क्या यह तो एक प्रकार की तिजारत है। इस प्रकार कर्तावादियों की भक्ति भक्ति नहीं ईश्वर को फुसलाना है, और अपने सुख के लिए उसकी चापलूसी करना अथवा घूस देने का प्रयत्न करना है। जैनधर्म में तो बिना किसी इच्छा के प्रभु की भक्ति करना ही सच्ची भक्ति है। निष्काम भक्ति ही सर्व श्रेष्ठ है। अब रहा यह प्रश्न कि आखिर इससे कुछ लाभ भी है या नहीं ? इसका उत्तर यह है कि परमात्मा आध्यात्मिक उत्कर्ष का आदर्श है और उस आदर्श का उचित स्मरण हम परमात्मा की भक्ति के द्वारा होता है। मनोविज्ञान शास्त्र का यह नियम है कि जो मनुष्य जैसी वस्तु का निरन्तर विचार करता है, चिन्तन करता है, कालान्तर में वह वैसा ही बन जाता है वैसी ही मनोवृत्ति पा लेता है। जिसकी जैसी भावना होती है, वह वैसा ही रूप धारण कर लेता है। इस नियम के अनुसार परमात्मा का चिन्तन मनन भजन करने से परमात्म पद की प्राप्ति होती है। और यह प्राप्ति, क्या कुछ कम है ?

: २२ :

अ ने का न्त वा द

[स्याद्वाद]

अनेकान्त वाद जैन दर्शन की आधार शिला है। जैन तत्वज्ञान की सारी इमारत, इसी अनेकान्तवाद के सिद्धान्त पर अवलम्बित है। वास्तव में अनेकान्त वाद को, स्याद्वाद को जैन दर्शन का प्राण समझना चाहिए। जैन धर्म में जब भी जो भी बात कही गई है, वह स्याद्वाद की सुनिपुण कसौटी पर अच्छी तरह जाँच परख कर ही कही गई है। यही कारण है कि दार्शनिक साहित्य में जैन दर्शन का दूसरा नाम अनेकान्त दर्शन भी है।

अनेकान्त वाद का अर्थ है—प्रत्यक वस्तु का भिन्न-भिन्न दृष्टि बिन्दुओं से विचार करना, देखना, या कहना। अनेकान्तवाद का यदि एक ही शब्द में अर्थ समझना चाहें, तो उसे 'अपेक्षावाद' कह सकते हैं। जैन धम म सवथा एक ही दृष्टिकोण से पदार्थ के अवलोकन करने की पद्धति को अपूर्ण एव'अप्रामाणिक समझा जाता है। और एक ही वस्तु में भिन्न भिन्न अपेक्षा से भिन्न भिन्न धर्मों को कथन करने की पद्धति को पूर्ण एव प्रामाणिक माना गया है। यह पद्धति ही अनेकान्तवाद है। अनेकान्तवाद के ही अपेक्षावाद, कथञ्चित् वाद और स्याद्वाद आदि नामान्तर हैं।

जैनधर्म की मान्यता है कि प्रत्येक पदार्थ, चाहे वह छोटा रजकण हो चाहे बड़ा हिमालय, अनन्त धर्मों का समूह है। धर्म का अर्थ गुण है, विशेषता है। उदाहरण के लिए आप फल को ले लीजिए। फल में रूप भी है, रस भी है, गध भी है, स्पर्श भी है, आकार भी है, भूख बुझाने की शक्ति है, अनेक रोगा को दूर करने की शक्ति है और अनेक रोगों को

पैदा करने की भी शक्ति है। कहाँ तक गिनाएँ ! हमारी बुद्धि बहुत सीमित है अतः हम वस्तु के सब अनन्त धर्मों को बिना केवलज्ञान हुए नहीं जान सकते; परन्तु यथाशक्ति प्रतिभासमान कुछ से धर्मों को तो जान ही सकते हैं।

हाँ तो पदार्थ को केवल एक पहलू से केवल एक धर्म से जानने का या कहने का आग्रह मत कीजिए। प्रत्येक पदार्थ को पृथक् पृथक् पहलुओं से देखिए और कहिए। इसी का नाम स्याद्वाद है। स्याद्वाद हमारे दृष्टिकोण को विस्तृत करता है हमारी विचार धारा को पूर्णता की ओर ले जाता है।

फल के सम्बन्ध में जब हम कहते हैं कि—फल में रूप भी है, रस भी है, गन्ध भी है स्पर्श भी है आदि आदि तब तो हम अनेकान्तवाद का उपयोग करते हैं अतः फल का ठीक तत्त्व निरूपण करते हैं। इसके विपरीत जब हम एकान्त आग्रह में आकर यह कहते हैं कि—फल में केवल रूप ही है रस ही है गन्ध ही है, स्पर्श ही है आदि आदि तब हम मिथ्या सिद्धान्त का प्रयोग करते हैं। भी में दूसरे धर्मों की स्वीकृति का स्वर छिपा हुआ है जब कि ही में दूसरे धर्मों का स्पष्टतः निषेध है। रूप भी है—इसका यह अर्थ है कि फल में रूप भी है और दूसरे रस आदि धर्म भी हैं। अगर रूप ही है —इसका यह अर्थ है कि फल में रूप ही है और रस आदि कुछ नहीं। यह भी और ही का अन्तर ही स्याद्वाद और मिथ्यावाद है। भी स्याद्वाद है तो ही मिथ्यावाद।

एक आदमी बाजार में खड़ा है। एक ओर से एक लड़का आया। उसने कहा—'पिताजी'। दूसरी ओर से एक बूढ़ा आया। उसने कहा—'पुत्र'। तीसरी ओर से एक अधेड़ व्यक्ति आया। उसने कहा—'भाई'। चौथी ओर से एक लड़का आया। उसने कहा—'मास्टर जी !' मतलब यह है कि—उसी आदमी को कोई चाचा कहता है कोई ताऊ कहता है, कोई मामा, कोई भानजा आदि आदि। अब झगड़ते हैं—यह तो पिता ही है पुत्र ही है, भाई ही है मास्टर ही है, चाचा ही है आदि आदि। अब

बताइए, कैसे निर्णय हो। उनका यह संघर्ष कैसे मिटे? वास्तव में वह आदमी है क्या? यहाँ पर स्याद्वाद को जज बनाना पड़ेगा। स्याद्वाद पहले लड़के से कहता है कि—हाँ यह पिता भी है। तुम्हारे ही लिए तो पिता है, चूँकि तुम इसके पुत्र हो। और सब लोगों का तो पिता नहीं है। बूढ़े से कहता है—हाँ यह पुत्र भी है। तुम्हारी अपनी अपेक्षा से ही यह पुत्र है, सब लोगों की अपेक्षा से तो नहीं। क्या यह सारी दुनिया का पुत्र है? मतलब यह है कि यह आदमी अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है, अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है, अपने भाई की अपेक्षा भाई है, अपने विद्यार्थी की अपेक्षा मास्टर है। इसी प्रकार अपनी अपनी अपेक्षा से चचा, ताऊ, मामा भानजा, पति, मित्र, सब है। एक ही आदमी में अनेक धर्म हैं, परन्तु भिन्न भिन्न अपेक्षा से। यह नहीं कि उसी पुत्र की अपेक्षा पिता, उसी की अपेक्षा पुत्र, उसी की अपेक्षा भाई, मास्टर, चचा, ताऊ, मामा, भानजा हो। ऐसा नहीं हो सकता। यह पदार्थ-विज्ञान के नियमों के विरुद्ध है।

अच्छा, स्याद्वाद को समझने के लिए तुम्हें कुछ और बताएँ? एक आदमी काफी ऊँचा है, इसलिए कहता है कि 'मैं बड़ा हूँ।' हम पूछते हैं—'क्या आप पहाड़ से भी बड़े हैं?' वह झट कहता है—'नहीं साहब, पहाड़ से तो मैं छोटा हूँ। मैं तो इन साथ के आदमियों की अपेक्षा से कह रहा था कि मैं बड़ा हूँ।' अब एक दूसरा आदमी है। वह अपने साथियों से नाटा है, इसलिए कहता है कि—'मैं छोटा हूँ।' हम पूछते हैं—'क्या आप चींटी से भी छोटे हैं?' वह झट उत्तर देता है 'नहीं साहब, चींटी से तो मैं बड़ा हूँ। मैं तो अपने इन कद्दावर साथियों की अपेक्षा से कह रहा था कि मैं छोटा हूँ।' अब तुम्हारी समझ में अपेक्षावाद आगया होगा कि हर एक चीज छोटी भी है और बड़ी भी। अपने से बड़ी चीजों की अपेक्षा छोटी है और अपने से छोटी चीजों की अपेक्षा बड़ी है। यह मर्म अनेकान्तवाद के बिना समझ में नहीं आ सकता।

अनेकान्तवाद को समझने के लिए प्राचीन आचार्यों ने हाथी का उदाहरण दिया है। एक गाँव में जन्म के अन्धे कुछ मित्र रहते थे। सौभाग्य से वहाँ एक हाथी आ निकला। गाँव वालों ने कभी हाथी देखा न था, धूम मच गई। अन्धों ने भी हाथी का आना सुना तो देखने दौड़े। अन्धे तो थे ही, देखते क्या? हर एक ने हाथ से टटोलना शुरू किया। किसी ने पूँछ पकड़ी तो किसी ने सूँड, किसी ने कान पकड़ा तो किसी ने दाँत, किसी ने पैर पकड़ा तो किसी ने पेट। एक एक अंग को पकड़ कर हर एक ने समझ लिया कि मैंने हाथी देख लिया है।

अपने स्थान पर आए तो हाथी के सम्बन्ध में चर्चा छिड़ी। पूँछ पकड़ने वाले ने कहा—"हाथी तो मोटे रस्से जैसा था।" सूँड पकड़ने वाले दूसरे अन्धे ने कहा—"झूठ बिल्कुल झूठ। हाथी कहीं रस्सा जैसा होता है। अरे हाथी तो मूसल जैसा था।" तीसरा कान वाला बोला – "आँखें काम नहीं देती तो क्या हुआ? हाथ तो धोखा नहीं दे सकते। मैंने हाथी को टटोल कर देखा था वह ठीक छाज जैसा था।" चौथे सूरदास दाँत वाले बोले—"अरे तुम सब क्यों गप्पें मारते हो? हाथी तो कुछ लम्बी कुदाल जैसा था।" पाँचवें पैर वाले महाशय ने कहा – "अरे कुछ भगवान का भी भय रक्खो। नाहक क्यों झूठ बोलते हो? हाथी तो मोटा खम्भा जैसा है।" छठे सूरदास पेट वाले गरज उठे—"अरे क्यों बकवास करते हो। पहले पाप किए तो अन्धे हुए, अब व्यर्थ का झूठ बोल कर क्या उन पापों की जड़ों में पानी सींचते हो? हाथी तो भाई मैं भी देखकर आया हूँ। वह अनाज भरने की कोठी जैसा है।" अब क्या था आपस में वाग्युद्ध ठन गया। सब एक दूसरे की भर्त्सना करने लगे।

सौभाग्य से वहाँ एक आँखों वाला सत्पुरुष आ गया। उसे अन्धों की तू तू मैं मैं सुनकर हँसी आ गई। पर दूसरे ही क्षण उसका चेहरा गंभीर हो गया। उसने सोचा—"भूल हो जाना अस्वाभाविक नहीं है, किन्तु किसी की भूल पर हँसना अपराध है।" उसका हृदय करुणाद्र

होगया। उसने कहा—"बन्धुओ, क्यों झगड़ते हो? ज़रा मेरी बात भी सुनो। तुम सब सच्चे भी हो और झूठे भी। तुममें से किसी ने भी हाथी को पूरा नहीं देखा है। एक एक अवयव को लेकर हाथी की पूर्णता का दावा कर रहे हो। कोई किसी को झूठा मत कहो, एक दूसरे के दृष्टि-कोण को समझने का प्रयत्न करो। हाथी रस्सा जैसा भी है, पूंछ की दृष्टि से। हाथी मूसल जैसा भी है, सूंड की अपेक्षा से। हाथी छाज जैसा भी है, कान की ओर से। हाथी कुदाल जैसा भी है, दाँतों के लिहाज से। हाथी खंभा जैसा भी है, पैर की अपेक्षा से। हाथी अनाज की कोठी जैसा भी है, पेट के दृष्टिकोण से।" इस प्रकार समझा बुझाकर उस सज्जन ने आग में पानी डाला।

संसार में जितने भी एकान्तवादी आग्रही सम्प्रदाय हैं, वे पदार्थ के एक एक अंश अर्थात् धर्म को ही पूरा पदार्थ समझते हैं। इसी लिए दूसरे धर्म वालों से लड़ते झगड़ते हैं। परन्तु वास्तव में वह पदार्थ नहीं, पदार्थ का एक अंश मात्र है। स्याद्वाद आँखों वाला दर्शन है। अतः वह इन एकान्तवादी अंधे दर्शनों को समझाता है कि तुम्हारी मान्यता किसी एक दृष्टि से ही ठीक हो सकती है, सब दृष्टि से नहीं। अपने एक अंश को सर्वथा सब अपेक्षा से ठीक बतलाना और दूसरे अंशों को भ्रान्त कहना, बिल्कुल अनुचित है। स्याद्वाद इस प्रकार एकान्तवादी दर्शनों की भूल बता कर पदार्थ के सत्यस्वरूप को आगे रखता है और प्रत्येक सम्प्रदाय को किसी एक विवक्षा से ठीक बतलाने के कारण साम्प्रदायिक कलह को शान्त करने की क्षमता रखता है। केवल साम्प्रदायिक कलह को ही नहीं, यदि स्याद्वाद का जीवन के हर क्षेत्र में प्रयोग किया जाय तो क्या परिवार, क्या समाज और क्या राष्ट्र सभी में प्रेम एवं सद् भावना का राज्य कायम हो सकता है। कलह और संघर्ष का बीज एक दूसरे के दृष्टिकोण को न समझने में ही है। और स्याद्वाद इसके समझने में मदद करता है।

यहाँ तक स्याद्वाद को समझाने के लिए स्थूल लौकिक उदाहरण ही

काम में लाए गए हैं। अब दार्शनिक उदाहरणों का मर्म भी समझ लेना चाहिए। यह विषय जरा गंभीर है अतः हमें सूक्ष्मनिरीक्षण पद्धति से काम लेना चाहिए।

अच्छा तो पहले नित्य और अनित्य के प्रश्न को ही ले लें। जैन-धर्म कहता है कि प्रत्येक पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी है। साधारण लोग इस बात पर चक्कर में पड़ जाते हैं कि जो नित्य है वह अनित्य कैसे हो सकता है? और जो अनित्य है वह नित्य कैसे हो सकता है? परन्तु जैन धर्म अपने 'अनेकान्तवाद' रूपी महान् अटल सिद्धान्त के द्वारा सहज ही में इस समस्या का सुलझाव देता है।

कल्पना कीजिए—एक घड़ा है। हम देखते हैं कि जिस मिट्टी से घड़ा बना है उसी से और भी सिकोरा सुराही आदि कई प्रकार के बर्तन बनते हैं। हाँ तो यदि उस घड़े को तोड़कर हम उसी घड़े की मिट्टी का बना हुआ कोई दूसरा बर्तन किसी को दिखलावें तो वह कदापि उसको घड़ा नहीं कहेगा। उसी मिट्टी और द्रव्य के होते हुए भी उसको घड़ा न कहने का कारण क्या है? कारण और कुछ नहीं यही है कि अब उसका आकार घड़े-जैसा नहीं है।

इस पर से यह सिद्ध हो जाता है कि घड़ा स्वयं कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है बल्कि मिट्टी का एक आकारविशेष है। परन्तु यह आकार-विशेष मिट्टी से सर्वथा भिन्न नहीं है उसी का एक रूप है। क्योंकि भिन्न भिन्न आकारों में परिवर्तित की हुई मिट्टी ही जब घड़ा सिकोरा सुराही आदि भिन्न भिन्न नामों से सम्बोधित होती है तो उस स्थिति में आकार मिट्टी से सर्वथा भिन्न कैसे हो सकता है? इससे साफ जाहिर है कि घड़े का आकार और मिट्टी; दोनों ही घड़े के अपने स्वरूप हैं। अब देखना है कि इन दोनों स्वरूपों में विनाशी स्वरूप कौनसा है और ध्रुव कौनसा है? यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है कि घड़े का आकार स्वरूप विनाशी है। क्योंकि वह बनता और बिगड़ता है। पहले नहीं था, बाद में भी नहीं रहेगा। जैन दर्शन में इसे पर्याय कहते हैं। और घड़े का जो दूसरा स्व

रूप मिट्टी है, वह अविनाशी है। क्योंकि उसका कभी नाश नहीं होता। घड़े के बनने से पहले भी वह मौजूद थी, घड़े के बनने पर भी वह मौजूद है, और घड़े के नष्ट हो जाने पर भी वह मौजूद रहेगी। मिट्टी अपने आप में स्थायी तत्व है, उसे बनना बिगड़ना नहीं है। जैन दर्शन में इसे द्रव्य कहते हैं।

इतने विवेचन पर से अब यह स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि घड़े का एक स्वरूप विनाशी है और दूसरा अविनाशी। एक जन्म लेता है और नष्ट हो जाता है, दूसरा सदा सर्वथा बना रहता है, नित्य रहता है। अतएव अब हम अनेकान्तवाद की दृष्टि से यों कह सकते हैं कि घड़ा अपने आकार की दृष्टि से=विनाशी रूप से अनित्य है और अपने मूल मिट्टी के रूप से=अविनाशी रूप से नित्य है। जैन दर्शन की भाषा में कहें तो यों कह सकते हैं कि-घड़ा अपने पर्याय की दृष्टि से अनित्य है और द्रव्य की दृष्टि से नित्य है। इस प्रकार एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी जैसे दीखने वाले नित्यता और अनित्यता रूप धर्मों को सिद्ध करने वाला सिद्धान्त ही अनेकान्तवाद है।

अच्छा, इसी विषय पर जरा और विचार कीजिए। जगत के सब पदार्थ उत्पत्ति, स्थिति और विनाश-इन तीन धर्मों से युक्त हैं। जैन दर्शन में इनके लिए क्रमश उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय शब्दों का प्रयोग किया गया है। आप कहेंगे-एक वस्तु में परस्पर विरोधी धर्मों का सभव कैसे हो सकता है? इसे समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए। एक सुनार के पास सोने का कगन है। वह उसे तोड़कर, गलाकर हार बना लेता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि कगन का नाश होकर हार की उत्पत्ति होगई। परन्तु इससे आप यह नहीं कह सकते कि कगन बिल्कुल ही नष्ट होगया, और हार बिल्कुल ही नया बन गया। क्योंकि कगन और हार में जो सोने के रूप मे मूल तत्व है, वह तो ज्यों का त्यों अपनी उसी स्थिति में विद्यमान है। विनाश और उत्पत्ति केवल आकार की ही हुई है। पुराने आकार का नाश हुआ है, और नये आकार की उत्पत्ति हुई है।

इस उदाहरण से सोने में कंगन के आकार का नाश हार के आकार की उत्पत्ति सोने की स्थिति—ये तीनों धर्म भली भांति सिद्ध हो जाते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में उत्पत्ति स्थिति और विनाश ये तीनों गुण स्वभावतया रहते हैं। कोई भी वस्तु जब नष्ट हो जाती है तो इससे यह न समझना चाहिए कि उसके मूल तत्व ही नष्ट हो गए। उत्पत्ति और विनाश तो उसके स्थूल रूप के होते हैं। स्थूल वस्तु के नष्ट हो जाने पर उसके सूक्ष्म परमाणु तो सदा स्थित ही रहते हैं। वे सूक्ष्म परमाणु दूसरी वस्तु के साथ मिलकर नवीन रूपों का निर्माण करते हैं। वैशाख और ज्येष्ठ के महीने में सूर्य की किरणों से जब तालाब आदि का पानी सूख जाता है तब यह समझना भूल है कि पानी का सर्वथा अभाव होगया है उसका अस्तित्व पूर्णतया नष्ट हो गया है। पानी चाहे अब भाप या गैस आदि किसी भी रूप में क्यों न हो, पर बराबर विद्यमान है। यह हो सकता है कि उसका वह सूक्ष्म रूप हमें दिखाई न दे, परन्तु यह तो कदापि संभव नहीं कि उसकी सत्ता ही नष्ट हो जाय सर्वथा अभाव ही हो जाय। अतएव यह सिद्धान्त अटल है कि न तो कोई वस्तु मूल रूप से अपना अस्तित्व खोकर नष्ट ही होती है और न सर्वथा अभाव अभाव रूप में अभाव से भाव होकर नवीन उत्पन्न ही होती है। आधुनिक पदार्थ विज्ञान अर्थात् साईंस भी इसी सिद्धान्त का समर्थन करता है। वह कहता है कि—"प्रत्येक वस्तु मूल प्रकृति के रूप में ध्रुव-स्थिर है और उससे उत्पन्न होने वाले पदार्थ उसके भिन्न भिन्न रूपान्तर मात्र हैं।"

हाँ तो उपयुक्त उत्पत्ति, स्थिति और विनाश- इन तीन गुणों में से जो मूल वस्तु सदा स्थित रहती है उसे जैन दर्शन में द्रव्य कहते हैं, और जो उत्पन्न एवं विनष्ट होता रहता है उसे पर्याय कहते हैं। कंगन से हार बनने वाले उदाहरण में—सोना द्रव्य है और कंगन तथा हार पर्याय हैं। द्रव्य की अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ को न एकान्त नित्य और न एकान्त अनित्य प्रत्युत नित्यानित्य उभयरूप से मानना ही अनेकान्तवाद है।

यही सिद्धान्त सत् और असत् के सम्बन्ध में है। कितने ही सम्प्रदाय कहते हैं—'वस्तु सत् है।' इसके विपरीत दूसरे सम्प्रदाय कहते हैं कि 'वस्तु सर्वथा असत् है।' दोनों ओर से संघर्ष होता है वाग्युद्ध होता है। अनेकान्तवाद ही इस संघर्ष का समाधान कर सकता है। अनेकान्तवाद कहता है कि प्रत्येक वस्तु सत् भी है और असत् भी है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ है भी और नहीं भी। अपने स्वरूप से है और परस्वरूप से नही है। अपने पुत्रकी अपेक्षा से पिता पितारूप से सत् है, और पर-पुत्र की अपेक्षा से पिता पितारूप से असत् है। यदि वह परपुत्र की अपेक्षा से भी पिता ही है, तो सारे संसार का पिता हो जायगा, और यह असंभव है। आपके सामने एक कुम्हार है। उसे कोई सुनार कहता है। अब यदि वह यह कहे कि मैं तो कुम्हार हूँ, सुनार नहीं हूँ तो क्या अनुचित कहता है। कुम्हार की दृष्टि से यद्यपि वह सत् है, तथापि सुनार की दृष्टि से वह असत् है। कल्पना कीजिए—सौ घड़े रक्खे हैं। घड़े की दृष्टि से तो सब घड़े हैं, इसलिए सत् हैं। परन्तु प्रत्येक घड़ा अपने गुण, धर्म और स्वरूप से ही सत् है, परगुण, परधर्म और पररूप से नही है। घड़ों में भी आपस में भिन्नता है। एक मनुष्य अकस्मात किसी दूसरे के घड़े को उठा लेता है, और फिर पहचानने पर यह कर कि यह मेरा नही है, वापिस रख देता है। इस दशा में घड़े मे असत् नही तो क्या है? 'मेरा नहीं है'—इसमें मेरा के आगे जो 'नही' शब्द है, वही असत् का अर्थात् नास्तित्व का सूचक है। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व अपनी सीमा मे है, सीमा से बाहर नही। अपना स्वरूप अपनी सीमा है, और दूसरों का स्वरूप अपनी सीमा से बाहर। यदि हर एक वस्तु, हरएक वस्तु के रूप में सत् हो जाय तो फिर संसार में कोई व्यवस्था ही न रहे। दूध दूध के रूप मे भी सत् हो, दही के रूप में भी सत् हो, छाछ के रूप में भी सत् हो, पानी के रूप में भी सत् हो, तब तो दूध के बदले में दही, छाछ या पानी हर कोई ले

दे सकता है। बात इतनी—घट घट के रूप में सत् है, पट आदि के रूप में नहीं। क्योंकि स्वरूप सत् है, पररूप असत्।

स्याद्वाद का अमर सिद्धान्त दार्शनिक जगत् में बहुत ऊँचा सिद्धान्त माना गया है। महात्मा गांधी जैसे संसार के महान पुरुषों ने भी इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। पाश्चात्य विद्वान डा० थामस आदि का भी कहना है कि—"स्याद्वाद का सिद्धान्त बड़ा ही गंभीर है। यह वस्तु की भिन्न-भिन्न स्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है।" वस्तुतः स्याद्वाद तत्त्वज्ञान की कुंजी है। आज संसार में जो हर तरफ धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि वैर विरोध का वातावरण है वह स्याद्वाद के द्वारा ही दूर हो सकता है। दार्शनिक क्षेत्र में स्याद्वाद सम्राट है उसके सामने आते ही कलह, ईर्ष्या, अनुदारता, साम्प्रदायिकता और संकीर्णता आदि दोष भयभीत होकर भाग जायेंगे। जब कभी विश्व में शान्ति का साम्राज्य स्थापित होगा वह स्याद्वाद के द्वारा ही होगा—यह बात अटल है, अचल है।

: २३ :

जैन धर्म का कर्मवाद

दार्शनिक वादों की दुनिया में कर्मवाद भी अपना एक विशिष्ट महत्त्व रखता है। जैन धर्म की सैद्धान्तिक विचारधारा मे तो कर्मवाद का अपना एक विशेप स्थान रहा है। बल्कि यह कहना, अधिक उपयुक्त होगा कि कर्मवाद के मर्म को समझे बिना जैन सस्कृति और जैन धर्म का यथार्थ ज्ञान हो ही नही सकता। जैन धर्म तथा जैन सस्कृति का भव्य प्रासाद कर्मवाद की गहरी एव सुदृढ नींव पर ही टिका हुआ है। अत आइए, कमवाद के सम्बन्ध मे कुछ मुख्य मुख्य बाते समझ लें।

कर्मवाद का ध्येय

कमवाद की धारणा है कि ससारी आत्माओं की सुख-दु ख, सम्पत्ति आपत्ति और ऊँच नीच आदि जितनी भी विभिन्न अवस्थाए दृष्टिगोचर होती हैं, उन सभी मे काल एव स्वभाव आदि की तरह कर्म भी एक प्रबल कारण है। जैन दर्शन जीवो की इन विभिन्न परिणतियों में ईश्वर को कारण न मान कर, कर्म को ही कारण मानता है। अध्यात्म शास्त्र के मर्म स्पर्शी सन्त देवचन्द्र जी ने कहा है—

'रे जीव साहस आदरो मत थावो तुम दीन,
सुख-दु ख सम्पद् आपदा पूरब कर्म अधीन।"

यद्यपि न्याय वैशेपिक, सांख्य, योग तथा वेदान्त आदि वैदिक दर्शनों में ईश्वर को सृष्टि का कर्ता और कमफल का दाता माना गया है। परन्तु जैन दर्शन सृष्टि कर्ता और कर्मफल दाता के रूप में ईश्वर की कल्पना ही नही करता। जैन धर्म का कहना है कि जीव जैसे कर्म करने मे स्वतन्त्र है, वैसे ही उसके फल भोगने में भी स्वतन्त्र है। मकड़ी

खुद ही बाला पूरती है और खुद ही उसमें फँस भी जाती है। इस सम्बन्ध में आत्मा का स्वरूप बताते हुए, एक विद्वान् आचार्य क्या ही अच्छा कहते हैं—

> 'स्वयं कर्म करोत्यात्मा
> स्वयं तत्फलमश्नुते।
> स्वयं भ्रमति संसारे,
> स्वयं तस्माद् विमुच्यते।"

(यह आत्मा स्वयं ही कर्म का करने वाला है और स्वयं ही उसका फल भोगने वाला भी है। स्वयं ही संसार में परिभ्रमण करता है और एक दिन धर्म साधना के द्वारा स्वयं ही संसार बन्धन से मुक्ति भी प्राप्त कर लेता है।)

आक्षेप और समाधान

ईश्वरवादियों की ओर से कर्मवाद पर कुछ आक्षेप भी किए गए हैं परन्तु जैन धर्म का यह महान् सिद्धान्त विरोधियों की परीक्षाग्नि में पड़ कर और भी अधिक उज्ज्वल एवं चमत्कार बना है। सभी आक्षेपों को यहाँ बतलाने के लिए अवकाश नहीं है तथापि मुख्य मुख्य आक्षेप जान लेने आवश्यक हैं। जरा ध्यान से पढ़िए—

(१) प्रत्येक आत्मा अच्छे कर्म के साथ बुरे कर्म भी करता है। परन्तु बुरे कर्म का फल कोई नहीं चाहता है। चोर चोरी तो करता है पर वह यह कब चाहता है कि मैं पकड़ा जाऊँ? दूसरी बात यह है कि कर्म स्वयं जड़-रूप होने से वे किसी भी ईश्वरीय चेतना की प्रेरणा के बिना फल प्रदान में असमर्थ भी हैं। अतएव कर्मवादियों को मानना चाहिए कि ईश्वर ही प्राणियों को कर्मफल देता है।

(२) कर्मवाद का यह सिद्धान्त ठीक नहीं है कि कर्म से छूटकर सभी जीव मुक्त अर्थात् ईश्वर हो जाते हैं। यह मान्यता तो ईश्वर और जीव में कोई अन्तर ही नहीं रहने देती जो कि अतीव आवश्यक है।

जैन दर्शन ने उक्त आक्षेपों का सुन्दर तथा युक्ति-युक्त समाधान किया है। जैन धर्म का कर्मवाद कोई बालु रेत का दुर्ग थोड़ा ही है, जो साधारण धक्के से ही गिर जाए। इसका निर्माण तो अनेकान्त की वज्र भित्ति से हुआ है। हाँ, तो उसकी समाधान-पद्धति देखिए--

(१) आत्मा जैसा कर्म करता है, कर्म के द्वारा उसे वैसा ही फल भी मिल जाता है। यह ठीक है कि कर्म स्वय जड़ रूप है और बुरे कर्म का फल भी कोई नही चाहता, परन्तु यह बात ध्यान देने की है कि चेतन के ससर्ग से कर्म में एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि जिस से वह अच्छे बुरे कर्मों का फल जीव पर प्रकट करता रहता है। जैन धर्म यह कब कहता है कि कर्म चेतन के ससर्ग के बिना भी फल देता है। वह तो यही कहता है कि कर्मफल में ईश्वर का कोई हाथ नही है।

कल्पना कीजिए कि एक मनुष्य धूप में खड़ा है, और गर्म चीज खा रहा है। और चाहता है कि मुझे प्यास न लगे। यह कैसे हो सकता है? एक सज्जन मिर्च खा रहे हैं और चाहते हैं कि मुँह न जले, क्या यह सम्भव है? एक आदमी शराब पीता है, और साथ ही चाहता है कि नशा न चढे। क्या यह व्यर्थ कल्पना नही है? केवल चाहने और न चाहने भर से कुछ नही होता है? जो कर्म किया है, उसका फल भी भोगना आवश्यक है। इसी विचारधारा को लेकर जैन दर्शन कहता है कि जीव स्वय कर्म करता है और स्वय ही उनका फल भी भोगता है। शराब आदि का नशा चढाने के लिए क्या शराबी और शराब के अतिरिक्त किसी तीसरे ईश्वर आदि की भी कभी आवश्यकता पड़ी है? कभी नही।

(२) ईश्वर चेतन है और जीव भी चेतन है। तब दोनों में भेद क्या रहा? भेद केवल इतना ही है कि जीव अपने कर्मों से बँधा है और ईश्वर उन बन्धनों से मुक्त हो चुका है। एक कवि ने इसी बात को कितनी सुन्दर भाषा में रख छोड़ा है--

"आत्मा परमात्मा मे कर्म ही का भेद है।
काट दे गर कर्म तो फिर भेद है न खेद है।

जैन दर्शन कहता है कि ईश्वर और जीव मे विषमता का कारण औपाधिक कर्म है। उसके हट जाने पर विषमता टिक नहीं सकती। अतएव कर्मवाद के अनुसार यह मानने म कोई आपत्ति नहीं कि सभी मुक्त जीव ईश्वर बन जाते हैं। सोने में से मैल निकाल दिया जाय तो फिर सोने के शुद्ध होने में क्या आपत्ति है? आत्मा म से कर्ममल को दूर करना चाहिए, फिर आत्मा ही शुद्ध परमात्मा बन जाता है।

निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्येक जीव कर्म करने म जैसे स्वतन्त्र है वैसे कर्म फल भोगने में भी वह स्वतन्त्र ही रहता है। ईश्वर का यहा कोई हस्तक्षेप नहीं होता।

कर्मवाद का व्यावहारिक रूप

मनुष्य जब किसी कार्य का प्रारम्भ करता है तो उस में कभी-कभी अनेक विघ्न और बाधाएं उपस्थित हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य का मन चचल हो जाता है और वह घबरा उठता है। इतना ही नहीं वह कि कर्तव्य विमूढ सा बन कर अपने आस पास के सभी व्यक्तियों को अपना शत्रु समझने की भूल भी कर बैठता है। फल स्वरूप अन्तरग कारणों को भूल कर बाहरी कारणों से ही जूझता रहता है।

ऐसी दशा में मनुष्य को पथभ्रष्ट होने से बचाकर सत्पथ पर लाने के लिए किसी सुयोग्य गुरु की बड़ी भारी आवश्यकता है। यह गुरु और कोई नहीं कर्म सिद्धान्त ही हो सकता है। कर्मवाद के अनुसार मनुष्य को यह विचार करना चाहिए कि जिस अन्तरंग भूमि में विघ्न-रूपी विष वृक्ष अंकुरित और फलित हुआ है उसका बीज भी उसी भूमि म होना चाहिए। बाहरी शक्ति तो जल और वायु की भांति मात्र निमित्त कारण हो सकती है। असली कारण तो मनुष्य को अपने अन्दर मे ही मिल सकता है बाहर नहीं। और वह कारण अपना किया हुआ कर्म ही है और कोई नहीं। अतः जैसे कर्म किए है, वैसा ही तो उनका फल मिलेगा।

नीम का वृक्ष लगाकर यदि कोई आम के फल चाहे तो कैसे मिलेंगे ? मैं बाहर के लोगों को व्यर्थ ही दोष देता हूँ। उनका क्या दोष है ? वे तो मेरे अपने कर्मों के अनुसार ही इस दशा में परिणत हुए हैं। यदि मेरे कर्म अच्छे होते तो वे भी अच्छे न होजाते ? जल एक ही है, वह तमाखू के खेत में कड़वा बन जाता है तो ईख के खेत में मीठा भी हो जाता है। जल अच्छा बुरा नहीं है। अच्छा बुरा है ईख और तमाखू। यही बात मेरे और मेरे संगी साथियों के सम्बन्ध में भी है। मैं अच्छा हू तो सब अच्छे हैं और मैं बुरा हू तो सब बुरे हैं।

मनुष्य को किसी भी काम की सफलता के लिए मानसिक शान्ति की बड़ी आवश्यकता है और वह इस प्रकार कर्म सिद्धान्त से ही मिल सकती है। आंधी और तूफान में जैसे हिमाचल अटल और अडिग रहता है, वैसे ही कर्मवादी मनुष्य भी अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी शान्त तथा स्थिर रहकर अपने जीवन को सुखी और समृद्ध बना सकता है। अतएव कर्मवाद मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में बड़ा उपयोगी प्रमाणित होता है।

कर्म सिद्धान्त की उपयोगिता और श्रेष्ठता के सम्बन्ध में डा० मैक्स मूलर के विचार बहुत ही सुन्दर और विचारणीय हैं। उन्होंने लिखा है—

"यह तो सुनिश्चित है कि कर्मवाद का प्रभाव मनुष्य जीवन पर बेहद पड़ा है। यदि किसी मनुष्य को यह मालूम पड़े कि वर्तमान अपराध के सिवाय भी मुझ को जो कुछ भोगना पड़ता है, वह मेरे पूर्वकृत कर्म का ही फल है, तो वह पुराने कर्ज को चुकाने वाले मनुष्य की तरह शान्त भाव से कष्ट को सहन कर लेगा। और यदि वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहन शीलता से पुराना कर्ज चुकाया जा सकता है, तथा उसी से भविष्यत् के लिए नीति की समृद्धि एकत्रित की जा सकती है, तो उस को भलाई के रास्ते पर चलने की प्रेरणा आप ही आप होगी। अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नहीं होता। यह नीति शास्त्र का मत और

न्याय शास्त्र का कर्म सम्बन्धी मत समान ही है। दोनों मतों का मानना इतना ही है कि किसी का नाश नहीं होता। किसी भी नैतिक शिक्षा के अस्तित्व के सम्बन्ध में कितनी ही शंका क्यों न हो, पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्म सिद्धान्त सब से अधिक बलप्रद माना गया है। उससे लाखों मनुष्यों के कष्ट कम हुए हैं। और उसी मत से मनुष्य को वर्तमान संकट झेलने की शक्ति पैदा करने तथा भावी जीवन को सुधारने में भी उत्तेजना, प्रोत्साहन और आत्मिक बल मिलता है।"

पाप और पुण्य

साधारण जनता यह समझती है कि किसी को कष्ट एवं दुःख देने से पाप कर्म का बन्ध होता है और इसके विपरीत किसी को सुख एवं सुविधा प्रदान करने से पुण्य कर्म का बन्ध होता है। परन्तु जब हम दार्शनिक दृष्टि से जैनधर्म का गम्भीर चिन्तन करते हैं तो पाप और पुण्य की यह उपर्युक्त कसौटी खरी नहीं उतरती है। क्योंकि कितनी ही बार उक्त कसौटी के सर्वथा विपरीत परिणाम भी होते हैं।

एक मनुष्य किसी को कष्ट देता है जनता समझती है कि वह पाप कर्म बांध रहा है परन्तु वह बांधता है वस्तुतः में पुण्य कर्म। और कभी कोई मनुष्य किसी को सुख देता है। ऊपर से वह अच्छा लगता है परन्तु बांध रहा है पाप कर्म। इस गम्भीर भाव को समझने के लिए कल्पना कीजिए—एक डाक्टर किसी फोड़े के रोगी का आपरेशन करता है। उस समय रोगी को कितना कष्ट होता है कितना चिल्लाता है? परन्तु डाक्टर यदि शुद्ध भाव से चिकित्सा करता है तो वह पुण्य बांधता है पाप नहीं। माता पिता हित शिक्षा के लिए अपनी सन्तान को ताड़ते हैं नियन्त्रण में रखते हैं तो क्या वे पाप बांधते हैं? नहीं वे पुण्य बांधते हैं। इसके विपरीत एक मनुष्य ऐसा है जो दूसरे को ठगने के लिए मीठा बोलता है सेवा करता है मान पूजन भी करता है तो क्या वह पुण्य बांधता है? नहीं वह भयङ्कर पाप कर्म का बन्ध करता है। अन्दर में जहर रखकर कोई भी पुण्य कर्म नहीं हो सकता।

अतएव जैनधर्म का कर्म सिद्धान्त कहता है कि पाप और पुण्य का बन्ध किसी भी बाह्य क्रिया पर आधारित नहीं है । बाह्य क्रियाओं की पृष्ठ भूमिस्वरूप अन्त करण मे जो शुभाशुभ भावनाएँ हैं, वे ही पाप और पुण्य बन्ध की खरी कसौटी हैं । क्योंकि जिसकी जैसी भावना होती है उसे वैसा ही शुभाशुभ कर्म फल मिलता है । 'यादृशी भावना यस्य सिद्धि र्भवति तादृशी ।'

कर्म का अनादित्व

दार्शनिक क्षेत्र मे यह प्रश्न चिरकाल से चक्कर काट रहा है कि कर्म सादि है अथवा अनादि ? सादि का अर्थ है—आदिवाला, जिसका एक दिन प्रारम्भ हुआ हो । अनादि का अर्थ है – आदि रहित, जिसका कभी भी प्रारम्भ न हुआ हो, जो अनन्त काल से चला आ रहा हो । भिन्न भिन्न दर्शनों ने इस सम्बन्ध मे भिन्न भिन्न उत्तर दिए हैं । जैन दर्शन भी इस प्रश्न का अपना एक अकाट्य उत्तर रखता है । वह अनेकान्त-की भाषा में कहता है कि कर्म सादि भी है और अनादि भी । इस का स्पष्टीकरण यह है कि कर्म किसी एक विशेष कर्म व्यक्ति की अपेक्षा से सादि भी है और अपने परम्परा प्रवाह की दृष्टि से अनादि भी है ।

कर्म का प्रवाह कब से चला ? इस प्रश्न का हाँ में उत्तर है ही नहीं । इसीलिए जैन दर्शन का कहना है कि कर्म प्रवाह से अनादि है । और इधर प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रत्येक क्रिया में नित्य नए कर्म बन्धन करता रहता है । अत व्यक्ति की अपेक्षा से कर्म सादि भी कहा जाता है ।

भविष्यत्काल के समान अतीत काल भी असीम एवं अनन्त है । अत एव भूतकालीन अनन्त का वर्णन 'अनादि' या 'अनन्त' शब्द के अति-रिक्त अन्य किसी प्रकार मे हो ही नहीं सकता । इसीलिए कर्मप्रवाह को अनादि कहे बिना दूसरी कोई गति नहीं है । यदि हम कर्मबन्ध की अमुक निश्चित तिथि मानें तो प्रश्न है कि उससे पहले आत्मा किस रूप मे था ?

यदि शुद्ध रूप में था कर्मबन्धन से सर्वथा रहित था तो फिर शुद्ध का कर्म कैसे लगे ? यदि शुद्ध को भी कर्म लग जाएँ तो फिर मोक्ष में शुद्ध होने पर भी कर्म बन्धन का होना मानना पड़ेगा। इस दशा में मोक्ष का मूल्य ही क्या रहेगा ? केवल मुक्त आत्मा की ही क्या बात ! ईश्वर-वादियों का शुद्ध ईश्वर भी फिर तो कर्म बन्धन के द्वारा विकारी एवं संसारी हो जाएगा। अतएव शुद्ध अवस्था में किसी प्रकार से कर्म-बन्धन का मानना युक्ति-युक्त नहीं है। इसी प्रकार तत्व का ज्ञान में रखकर जैन दर्शन ने कर्म प्रवाह को अनादि माना है।

कर्म-बन्ध के कारण

यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि कारण के बिना कोई भी कार्य नहीं होता। बीज के बिना कभी वृक्ष पैदा होता है ? कभी नहीं। हाँ तो कर्म भी एक कार्य है। अतः उसका कोई न कोई कारण भी अवश्य होना चाहिए। बिना कारण के कर्म स्वरूप कार्य किसी प्रकार भी अस्तित्व में नहीं आ सकता।

जैन धर्म में कर्म बन्ध के मूल कारण दो बतलाए हैं—राग और द्वेष। भगवान् महावीर ने अपने पावापुर के प्रवचन में कहा है—"रागो य दोसो बीय कम्म बीयं। अर्थात् राग और द्वेष ही कर्म के बीज हैं, मूल कारण हैं। आसक्तिमूलक प्रवृत्ति को राग और घृणा-मूलक प्रवृत्ति को द्वेष कहते हैं। पुण्य कर्म के मूल में भी किसी न किसी प्रकार की सांसारिक मोहमाया एवं आसक्ति ही होती है। घृणा और आसक्ति रहित शुद्ध प्रवृत्ति तो कर्म बन्धन को तोड़ती है बांधती नहीं है।

कर्म-बन्धन से मुक्ति

कर्म-बन्धन से रहित होने का नाम मुक्ति है। जैन धर्म की मान्यता है कि जब आत्मा राग द्वेष के बन्धन से छुटकारा पा लेता है आगे के लिए कोई नया कर्म बाँधता नहीं है और पुराने बँधे हुए कर्मों को भोग लेता है या धर्म साधना के द्वारा पूर्व कर्म से नष्ट कर देता है तो फिर

सदा काल के लिए मुक्त हो जाता है, अजर अमर हो जाता है। जब तक कर्म और कर्म के कारण राग द्वेष से मुक्ति नहीं मिलेगी, तब तक आत्मा किसी भी दशा में मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

अब प्रश्न केवल यह रह जाता है कि कर्म-बन्धनों से मुक्ति पाने के क्या साधन हैं, क्या उपाय हैं? जैन धर्म इस प्रश्न का बहुत सुन्दर उत्तर देता है। वह कहता है कि आत्मा ही कर्म बाधने वाला है और वही उसे तोड़ने वाला भी है। कर्मों से मुक्ति पाने के लिए वह ईश्वर के आगे गिड़गिड़ाने अथवा नदी नालों और पहाड़ों पर तीर्थ यात्रा के रूप में भटकने के लिए कभी प्रेरणा नहीं देता। वह मुक्ति का साधन अपनी आत्मा में ही तलाश करता है। जैन तीर्थंकरों ने मोक्ष प्राप्ति के तीन साधन माने हैं —

(१) सम्यग् दर्शन—आत्मा है, वह कर्मों से बंधा हुआ है और एक दिन वह बन्धन से मुक्त होकर सदा काल के लिए अजर अमर परमात्मा भी हो सकता है, इस प्रकार के दृढ़ आत्म-विश्वास का नाम ही सम्यग् दर्शन है। सम्यग् दर्शन के द्वारा आत्मा के हीनता और दीनता के भाव क्षीण होते हैं और आत्म-शक्ति के प्रचण्ड तेज में अटल विश्वास के अचल भाव जाग्रत होते हैं।

(२) सम्यग् ज्ञान—चैतन्य और जड़ पदार्थों के भेद का ज्ञान करना, संसार और उसके राग द्वेषादि कारण तथा मोक्ष और उसके सम्यग् दर्शनादि साधनों का भली भाँति चिन्तन मनन करना, सम्यग् ज्ञान कहलाता है। सांसारिक दृष्टि से कितना ही बड़ा विद्वान् क्यों न हो, यदि उसका ज्ञान मोह माया के बन्धनों को ढीला नहीं करता है, विश्व कल्याण की भावना को प्रोत्साहित नहीं करता है, आध्यात्मिक जागृति में बल नहीं पैदा करता है, तो वह ज्ञान सम्यग् ज्ञान नहीं कहला सकता। सम्यग् ज्ञान के लिए आध्यात्मिक चेतना एवं पवित्र उद्देश्य की अपेक्षा है। मोक्षाभिमुखी आत्म-चेतना ही वस्तुतः सम्यग् ज्ञान है।

(३) सम्यक् चारित्र—विश्वास और ज्ञान के अनुसार आचरण भी तो आवश्यक है। जैन धर्म चारित्र प्रधान धर्म है। वह केवल भावनाओं और कल्पनाओं के भरोसे ही नहीं बैठा रहता उचित पुरुषार्थ ही जीवन का मार्ग है। अतएव विश्वास और ज्ञान के अनुसार अहिंसा एवं सत्य आदि सदाचार की साधना करना ही सम्यक् चारित्र है।

[प्रथम खण्ड ग्रन्थ की प्रस्तावना के आधार से]

: २४ :

आत्म-धर्म

धर्म क्या वस्तु है ? धर्म किसे कहते हैं ?"—यह प्रश्न बड़ा गभीर है। भारत वर्ष के जितने भी मत, पन्थ, या सप्रदाय हैं, सभी ने उक्त प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न किया है। किसी ने किसी बात में धर्म माना है, तो किसी ने किसी बात मे धर्म माना है। सब के मार्ग भिन्न भिन्न हैं।

पुराने मीमासा सप्रदाय के मानने वाले कहते हैं कि यज्ञ करना धर्म है। यज्ञ मे अश्व, अज आदि पशुओं का हवन करने से बहुत बड़ा धर्म होता है और मनुष्य स्वर्ग को पाता है। भगवान् महावीर के समय में इस मत का बड़ा प्रचलन था। भगवान् का सघर्ष इसी वैदिक सप्रदाय से हुआ था। आज भी देवी देवताओं के आगे पशु बलि करने वाले लोग उसी सप्रदाय के ध्वसावशेष हैं।

पौराणिक धम के मानने वाले कहते हैं कि भगवान् की भक्ति करना ही धर्म है। मनुष्य कितना ही पापी क्यों न हो, यदि वह भगवान् की शरण स्वीकार कर लेता है, उसका नाम जपता है, तो वह सब पापों से मुक्त हो जाता है। श्री कृष्ण, श्री राम, श्री शिवजी आदि की उपासना करने वाले, उसी पौराणिक धर्म के मानने वाले हैं। भगवद् भक्ति ही पौराणिक धर्म की विशेषता है।

और कितने उदाहरण दिए जाएँ ? भिन्न-भिन्न विचारधाराओं मे धर्म का स्वरूप भी भिन्न भिन्न रूप से वर्णन किया गया है। कुछ लोग नहाने में धर्म मानते हैं, कुछ लोग ब्राह्मणों को भोजन कराने म धर्म मानते हैं, कुछ लोग पूजा, पाठ, जप, तिलक आदि में धर्म मानते हैं। सब लोग धर्म का स्थूल रूप जनता के सामने रख रहे हैं। कौन है जो उसका मौलिक सूक्ष्म रूप उपस्थित करे ?

जैन धर्म का सूक्ष्म चिन्तन संसार में प्रसिद्ध है। वह वस्तु के बाह्य रूप पर उतना ध्यान नहीं देता जितना कि उसके सूक्ष्म रूप पर देता है। जैन धर्म कहता है—'वत्थुसहावो धम्मो' वस्तु का निज स्वभाव ही धर्म है। धर्म कोई पृथक् वस्तु नहीं है। वस्तु का जो अपना असली स्वभाव है, स्वरूप है वह धर्म है। और जो पर वस्तु के मिलाप से नकली बिगड़ा हुआ स्वभाव है जिसे दार्शनिक भाषा में विभाव कहते हैं वही अधर्म है।

उदाहरण के लिए जल को लिया जा सकता है। जल का असली स्वभाव क्या है? शीतल रहना, स्वच्छ रहना, स्वच्छ रहना। जल का स्वभाव यही है। इस से विपरीत उष्ण होना, धूम जाना, मलिन होना असली स्वभाव नहीं है, विभाव है। क्योंकि उष्ण होना आदि धर्म जल में दूसरी अग्नि आदि वस्तु के मेल से आता है।

अब हमें विचार करना है कि—हम आत्मा हैं, हमारा स्वभाव या धर्म क्या है? जो हम आत्माओं का स्वभाव होगा वही हम सच्चा धर्म होगा। उसी से कल्याण हो सकेगा।

आत्मा का धर्म सत्, चित्, और आनन्द है। सत् का अर्थ सत्य है जो कभी मिथ्या न हो सके। चित् का अर्थ चेतना है, ज्ञान है जो कभी बदलकर न हो सके। आनन्द का अर्थ सुख है जो कभी दुःख रूप न हो सके। आत्मा का अपना धर्म यही है। इसके विपरीत संसार में भ्रमण करना, मिथ्या विश्वासों में उलझे रहना, अज्ञान का आवरण रहना आधि व्याधि आदि का दुःख होना आत्मा का अपना असली निज धर्म नहीं है। यह विभाव है, अधर्म है। आत्मा से अलग निजातीय कर्मों के मेल के कारण ही यह सब मिथ्या प्रपंच है। यही कारण है कि आज संसार में सब आत्माएँ एक समान नहीं हैं। वह भिन्न भिन्न अवस्थाओं और रूपों में चक्कर काट रही हैं। यदि यह सब आत्माओं का अपना स्व रूप होता तो इतनी भिन्नता क्यों होती? वस्तु का अपना धर्म तो एक ही होता है वहाँ भेद कैसा? अस्तु, यह सिद्ध है कि आत्माओं की

वर्तमान अवस्था कर्मों का फल है, और इसी कारण भिन्नता है। जैन धर्म कहता है कि जब आत्माएँ मोक्ष दशा में पहुँच जायँगी, तो सब एक समान हो जायँगी। वहाँ छोटे बड़े का शुद्ध अशुद्ध का कोई भेद ही न रहेगा। और मोक्ष का वह स्वरूप ही आत्माओं का अपना असली स्वभाव है, धर्म है।

ऊपर की पंक्तियों में आत्मा का धर्म जो सत्, चित्, आनन्द बताया है, वही जैन आगमों की भाषा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र कहलाता है। इन्हीं को रत्नत्रय कहते हैं। आत्मा की यही अन्तरंग विभूति है, सम्पत्ति है। जब आत्मा विभाव परिणति को त्याग कर स्वभाव परिणति में आता है, तो रत्नत्रय रूप जो अपना शुद्ध स्वरूप है, उसे ही अपनाता है। अस्तु, सच्चा धर्म यही रत्नत्रय रूप है। बाह्य क्रिया-काण्डों में उलझ कर जनता व्यर्थ ही कष्ट पाती है। वह भेद-बुद्धि का मार्ग है, अभेद-बुद्धि का नहीं। निश्चय दृष्टि में तो यही धर्म का शुद्ध स्वरूप है।

[१] सम्यग्दर्शन—सच्चा देव अरिहन्त है, सच्चा गुरु निर्ग्रन्थ है और सच्चा धर्म जीवदया है। इन पर दृढ विश्वास रखना, सम्यग्दर्शन है। रागी द्वेषी देवताओं, भोगविलासी पाखंडी गुरुओं, और जीव हिंसा-रूप धर्मों के मानने से आत्मा सत्य स्वरूप नहीं रहती, मिथ्यास्वरूप हो जाती है, अतः यह सम्यग्दर्शन नहीं कहलाता।

[२] सम्यग् ज्ञान— जीव, अजीव, पाप, पुण्य, आस्रव, संवर, निर्जरा बन्ध और मोक्ष के सिद्धान्तों का सच्चा भ्रान्तिरहित ज्ञान ही सम्यग् ज्ञान है। जब तक आत्मा को जीवादि पदार्थों का सच्चा ज्ञान नहीं होता, तब तक वह अज्ञान की भ्रान्ति में से निकल कर सत्य के प्रकाश में नहीं आ सकता।

[३] सम्यक् चारित्र—सम्यक् का अर्थ सच्चा और चारित्र का का अर्थ आचरण है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह आदि नियमों का पालन करना ही सदाचार है। जिस आत्मा में जितना

राग द्वेष कम होगा जितना मोह माया का भाव न्यून होगा, वह उतना ही सम्यक् चारित्र का पालन करने वाला माना जाता है। आत्मा में चंचलता राग द्वेष के कारण से है। जब राग द्वेष दूर हो जायगा, तब आत्मा शुद्ध निष्कलंक सर्वज्ञ हो जायगा। और इस प्रकार सर्वज्ञ अवस्था का नाम ही मोक्ष है।

किं बहुना आत्मा के उद्धार के लिए यह रत्नत्रय-रूप धर्म ही सर्वोत्तम है। अस्तु, बाह्य प्रपंच और झगड़ों का त्यागकर, हमें अपनी अन्तरंग दशा में पहुँच कर सम्यग् दर्शन सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की ही शुद्ध भाव से उपासना करनी चाहिए। रत्नत्रय धर्म ही सच्चा आत्म धर्म है। और यही आत्म-धर्म जैन धर्म है।

: २५ :

वनस्पति में जीव

वृक्षों और वनस्पतियों में जीव होने की बात हम भारतवासी आज से नहीं, कल से नहीं, हजारों वर्षों से मानते आए हैं। हमारे तत्त्वदर्शी ज्ञानियों ने अपनी विकसित आत्मशक्ति के द्वारा वनस्पतियों मे जीव होने की बात का पता बहुत पहले से ही लगा लिया था। जैनधर्म में तो स्थान-स्थान पर वृक्षों में जीव होने की घोषणा की गई है। भगवान् महावीर ने आचाराङ्ग सूत्र में वनस्पति की तुलना मानव शरीर से बतलाई है। आचाराग का भाव इन शब्दों में प्रगट किया जा सकता है—

(१) जिस प्रकार मनुष्य जन्म लेता है, युवा होता है, और बूढा होता है, उसी प्रकार वृक्ष भी तीनों अवस्थाओं का उपभोग करता है।

(२) जिस प्रकार मनुष्यों में चेतना शक्ति होती है, उसी प्रकार वृक्ष भी चेतना शक्ति रखता है, सुख दुःख का अनुभव करता है, आघात आदि सहन करता है।

(३) जिस प्रकार मनुष्य छीजता है, कुम्हलाता है और अन्त में क्षीण होकर मर जाता है, उसी प्रकार वृक्ष भी आयु की समाप्ति पर छीजता है, कुम्हलाता है और अन्त में मर जाता है।

(४) जिस प्रकार भोजन करने से मनुष्य का शरीर बढता है और न मिलने से सूख जाता है, उसी प्रकार वृक्ष भी खाद और पानी की खुराक मिलने से बढ़ता है, विकाश पाता है, और उसके अभाव में सूख जाता है।

आज का युग, विज्ञान का युग है। आज कल प्रत्येक बात की परीक्षा प्रयोगों की कसौटी पर चढाकर की जाती है। यदि विज्ञान की कसौटी पर बात खरी उतरती है तो मानी जाती है, अन्यथा नहीं। जैन-

धर्म की यह वृक्ष में जीव होने की बात पहले केवल मजाक की चीज समझी जाती थी; परन्तु जब से इधर डा० जगदीशचन्द्र वसु महोदय ने अपने अद्भुत आविष्कारों द्वारा यह सिद्ध किया है कि वृक्ष में जीव है तब से पुराने धर्म शास्त्रों की खिल्ली उड़ाने वाली जनता आश्चर्य-चकित रह गई है।

वसु महोदय के आविष्कारों से पता चला है कि हमारी ही तरह वृक्षों में भी जान है। भोजन पानी और हवा की जरूरत उन्हें भी पड़ती है हमारी ही तरह वे भी जिन्दा रहते हैं और मरते हैं। हां इतना जरूर है कि उनका काम करने का तरीका हम से कुछ भिन्न है।

चलती हुई सांस देख कर ही मनुष्य जिन्दा कहा जाता है। अलबत्ता पेड़ पौधे भी सांस लेते हैं। और मजा यह कि उनका सांस लेने का तरीका हम से बहुत मिलता-जुलता है। हम सिर्फ फेफड़े से ही सांस नहीं लेते, प्रत्युत हमारे शरीर पर लगा चमड़ा भी इस काम में हमारी मदद करता है। ठीक इसी तरह पौधे भी अपने सारे शरीर से सांस लेते हैं। तुम्हें यह जान कर आश्चर्य होगा कि बीज भी हवा से सांस लेते हैं। ऐसे यन्त्र बन गए हैं जो ठीक नाप तौल के बतला देंगे कि अमुक बीज ने इतने समय में इतनी आक्सिजन हवा में से खींच ली है।

पौधों में स्मरण शक्ति का भी अभाव नहीं है। यह बात सभी जानते हैं कि बहुत से पौधे रात्रि के समीप आने पर अपने पत्तों को सिकोड़ लेते हैं और फूल के डंठल को नीचे गिरा देते हैं। इसका कारण सूरज की अन्तिम किरणों का पौधों पर पड़ना बताया जाता है लेकिन वैज्ञानिकों ने प्रयोग करके देखा है कि अंधेरे कमरे में बन्द कर देने पर भी पौधे ठीक सूर्यास्त के समय अपने पत्तों को सिकोड़ने लगते हैं और सूरज के निकलने के समय खिल उठते हैं। सच बात तो यह है कि पौधों के पत्तों को उनका स्मरण रहता है। इतनी कल्पना तक वाले ही मानने लगते हैं।

वैज्ञानिकों ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि पौधे पशुओं की तरह सर्दी, गरमी, दुःख, हर्ष आदि का ज्ञान भी रखते हैं। पौधों में प्यार तथा घृणा का भाव भी विद्यमान है। जो उनके साथ अच्छा व्यवहार करते हैं, उन्हें वे चाहते हैं, और जो मनुष्य उनके साथ दुर्व्यवहार करते हैं, उन्हें वे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। कुछ पौधे बहुत अधिक फैशन पसन्द होते हैं। गुलाब का फूल तुरन्त गन्ध का अनुभव कर लेता है और अपने पँखुड़ियों को सिकोड़ लेता है। जरा मैले हाथों से कमल को छू दीजिए, वह मुर्झा जायगा।

चोट लगने या छिल जाने पर जैसे हमें तकलीफ होती है, उसी तरह पौधों को भी। प्राणियों के समान वृक्षों के शरीर में भी स्नायु जाल फैला रहता है। जैसे मनुष्य के किसी अङ्ग में पीड़ा होने से वह स्नायु-सूत्रों के द्वारा सारे शरीर में फैल जाती है, वैसे ही वृक्षों के शरीर में भी आघात की उत्तेजना फैल जाती है।

अपनी इन्द्रियों द्वारा पौधे सर्दी गर्मी आदि का तो अनुभव करते ही हैं, साथ ही विष और उत्तेजक पदार्थों का भी उन पर प्रभाव पड़ता है। डा० वसु ने एक यन्त्र ऐसा भी बनाया है, जो नाजुक पत्तियों की धड़कन का पता बताता है। शराब पीकर पौधे भी उत्तेजित होजाते हैं, इस बात का पता इस यन्त्र की सहायता से सहज ही में लग सकता है। पौधे की जड़ में शराब डाल दो और फिर यन्त्र से उस पौधे का सम्बन्ध कर दो, तो तुम देखोगे कि उसकी पत्तियों में अधिक धड़कन होने लगी है।

क्या मनुष्य और पशु-पक्षी सभी दिन भर काम करने के बाद थक जाते हैं और रात में उन्हें आराम करने की जरूरत पड़ती है। पेड़ पौधे भी इसी प्रकार थक कर रात में आराम करते हैं। सूरज के डूब जाने के बाद यदि तुम बाग में जाओ, तो देखोगे कि पत्तियों का रंग ढंग दिन जैसा नहीं है। ऐसा लगता है, जैसे वे चुपचाप पड़ी सो रही हों। 'क्लोवर' नामक पौधे की पत्तियों में यह परिवर्तन बहुत साफ दिखाई देता है। उसकी पत्तियाँ रात के समय झुक कर तने से सट जाती हैं। हिन्द-

स्थान में पाया जाने वाला 'रेजीमाक प्लाँट' पत्ते में पत्ती पर पत्ती रख कर सोता है।

जिस प्रकार मनुष्यों के स्वभाव भिन्न भिन्न होते हैं, उसी प्रकार वृक्षों के स्वभाव भी बहुत विचित्र प्रकार के होते हैं। कुछ वृक्ष ऐसे हैं, जो मांसाहार भी करते हैं। मांसाहारी पौधों की लगभग पाँच सौ जातियाँ पाई गई हैं। एक पौधा 'ब्लेडर वर्ट' होता है यह जल का रहने वाला है। इसके तने पर छोटे-छोटे थैले लगे रहते हैं। इन थैलों के मुँह पर एक दरवाजा लगा रहता है ज्यों ही कीड़ा मकोड़ा अन्दर पहुँचता है त्यों ही दरवाजा अपने आप बन्द हो जाता है। बिचारा कीड़ा अन्दर ही अन्दर छटपटा कर मर जाता है और उसका रक्त या रस चूस लेता है।

अमरीका के घने जंगलों में ऐसे पेड़ पाए गए हैं, जो बड़े-बड़े जानवरों को भी दूर से जाल फैला कर पकड़ लेते हैं। उनके शिकंजे से निकल भागना फिर असम्भव हो जाता है। ये पेड़ मनुष्यों का भी अपने पर वार कर जाते हैं। मनुष्य के पास आते ही उसे अपनी डालियों से पकड़ लेते हैं और चारों ओर से डालियों के बीच दबा कर रक्त चूस लेते हैं। कितना भयंकर कर्म है इनका! वृक्षों की सजीवता का यह प्रबल प्रमाण है।

पुनश्च

लेख का उपसंहार किया जा चुका है तथापि वनस्पति में जीव की सिद्धि के लिए अभी कुछ कहना शेष है। लेखक के सामने 'विश्व विहार' नामक विज्ञान सम्बन्धी पुस्तक है जिसमें इस सम्बन्ध की काफी अच्छी जानकारी संग्रहीत है। पाठकों के ज्ञान-वर्धन के लिए संक्षेप में उसका सार बता देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

वृक्ष जानवरों से बहुत सी बातों में मिलते हैं। इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि केवल बीज-धारी ही अपने माता पिता और पड़ोसियों का चरित्र ग्रहण करता है। यदि पड़ोस स्वास्थ्यप्रद है तो पौधे मजबूत

और मोटे होंगे, और जिस तरह तन्दरुस्त बच्चों, स्त्रियों और पुरुषों की मुस्कराहट देख कर जाना जाता है कि वे स्वस्थ हैं, उसी प्रकार पौदों की सुन्दर पत्तियाँ और बढ़िया फूलों से मालूम हो जाता है कि इन्हें अनुकूल पड़ोस मिला है।

जीवित रहने के लिए हमें साँस लेने की जरूरत होती है। यही बात पौदों के लिए भी लागू होती है। पौदे को यदि आक्सिजन या प्राणप्रद वायु न मिले तो वह सूख कर नष्ट हो जायगा। हम अपने नथनों के द्वारा हवा को अन्दर खींचते हैं। यद्यपि पौदों के साँस लेने वाले छिद्र इतने छोटे होते हैं कि उन्हें देखने के लिए अणुवीक्षण यंत्र की आवश्यकता होती है। जन्म लेते ही प्रत्येक जन्तु और पौदे का पहला काम साँस लेना है, और वह उसके जीवन के अन्त तक जारी रहता है।

पौदों की लड़ाई भी जानवरों की लड़ाई की तरह ही भयानक होती है। एक या दो महीने तक फुलवाड़ी में कोई काम न किया जाय, तो बड़े बड़े जंगली पौदे नागर मोथा आदि उग कर उन फूलों के पौदों को मार देते हैं। हम प्रायः यह देखते हैं कि बहुत सी लताएँ और बेल वृक्षों पर चढ़ कर उन्हीं पर जड़ जमा कर उन से खुराक हासिल करती हैं, जिससे वे वृक्ष कमजोर होकर मर तक जाते हैं।

जिस तरह जानवरों में नर और मादा होते हैं, उसी प्रकार पौदों में भी नर और मादा होते हैं, जिन से बच्चों की तरह पौदों का जन्म होता है।

जानवर एक खास समय तक काम करने के बाद आराम चाहते हैं। इसी प्रकार पौदे भी साधारणतः दिन में ही काम करते हैं, अर्थात् जमीन से अपनी खूराक खींच कर उन्हें खाने के रूप में बनाते हैं। सूर्यास्त के बाद वे अपना काम बन्द कर देते हैं, और जिस तरह जानवर सोते हैं, वैसे ही ये भी आराम करते हैं।

जानवरों की तरह पौधे भी आरम्भ में खूब लड़ाई करते हैं, और अन्त में वही खेत पर कब्जा जमा लेता है जो सबसे मजबूत होता है।

यदि आप इन सब बातों पर अच्छी तरह विचार करें तो पौधों के साथ भी वैसा ही व्यवहार करने लगेंगे और उन्हें न सताएँगे, जैसा कि हम जानवरों या बच्चों के साथ करते हैं। भगवान् महावीर ने वृक्षों के प्रति भी दयालुता के व्यवहार का उपदेश दिया है और साधुओं को स्पर्श ही वनस्पति के सम्मूलन से रोका है।

: २६ :

जैन धर्म और अस्पृश्यता

जैन धर्म अस्पृश्यता का कट्टर विरोधी है। प्रचलित जात-पाँत सम्बन्धी अस्पृश्यता के लिए जैन धर्म म अणुमात्र भी स्थान नहीं है। अस्पृश्यता के विरुद्ध जितनी बगावत जैन धर्म ने की ह, उतनी शायद ही किसी अन्य धर्म ने की हो। जैन धर्म का कहना है कि 'अस्पृश्यता मानव जाति के लिए भीषण कलक है। अत मनुष्य मात्र का कर्तव्य है कि वह इस कलक को धो डालने के लिए जो कुछ प्रयत्न कर सकता हो करे एव मनुष्यता के नाते अपने अस्पृश्य कहे जाने वाले मानव बन्धुओं को प्रेम के साथ हृदय से लगाए।'

उच्चता और नीचता के सम्बन्ध म जैन धर्म की मान्यता है कि कोई भी मनुष्य जन्म से ऊँच नीच नहीं होता। ऊँच नीच की व्यवस्था तो मनुष्य के अपने कृत कर्मों पर है। जो मनुष्य उच्च अर्थात् श्रेष्ठ कर्म करता है, वह उच्च कहलाता है। और जो नीच अर्थात् बुरे कर्म करता है, वह नीच कहलाता है। यह उच्च तथा नीच कर्म की व्यवस्था भी लौकिक जीवन वृत्ति (पेशा) के साथ अपना कोई सम्बन्ध नहीं रखती। यह बात नहीं है कि मैला साफ करने वाला भगी, जिसे लोग नीच समझते हैं, नीच है। और पडिताई का काम करने वाला ब्राह्मण, जिसे लोग उच्च समझते हैं, उच्च है। जैन धर्म का तो यह सिद्धान्त है कि आत्म-शक्ति को विकसित करने वाले अहिंसा, सत्य, परोपकार, सयम आदि सद्गुण हैं। मानव जीवन की पवित्रता के मूल आधार ये ही पवित्र आचरण हैं। अतएव न्यूनाधिक रूप से जिस मनुष्य मे इन श्रेष्ठ गुणों का विकास हो वह उच्च है, श्रेष्ठ है, पूज्य है एव पवित्र है। और जिसमें हिंसा, असत्य, व्यभिचार, निर्दयता आदि दुर्गुणों का

व्यक्तित्व हो, वह नीच है, अधम है एवं अपवित्र है। भले ही फिर वह जन्म से ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, भंगी हो या और कोई भी हो। मानवता के क्षेत्र में ब्राह्मण और भंगी के लिए कोई अलग अलग कायदे कानून नहीं हैं।

यहाँ एक बात और भी ध्यान में रखने की है। वह यह कि जैन धर्म में अपवित्रता को लेकर घृणा करना सिखाया है, परन्तु वह घृणा पापों से है मनुष्य से नहीं। कोई भी सच्चा धर्म मनुष्य से घृणा करने का पाठ नहीं पढ़ा सकता। यदि कोई धर्म ऐसा करता भी है तो वह धर्म नहीं, प्रत्युत मानव सभ्यता के मूल पर कुठाराघात करने वाला भयंकर शत्रु है।

जैन धर्म का मानव मात्र के लिए यही पवित्र उपदेश है कि आजीवन दुराचार रूप पापों का तिरस्कार करो पापी का नहीं। तुम्हें पाप के प्रति तिरस्कार करने का अधिकार है मनुष्य के प्रति नहीं। यदि कभी तुमने धार्मिक मदान्धता में आकर पापी के प्रति घृणा अथवा तिरस्कार की भावना रखी तो समझ लो, धर्म तो क्या तुम अपना मनुष्यत्व भी खो बैठोगे। जिस प्रकार तुम एक धर्मात्मा कहे जाने वाले मनुष्य की पूजा में उदारता रखते हो, उसी प्रकार उस पापी की भी करो, जिसे अहंमन्य मनुष्यों ने पापी बना कर मानवीय सहानुभूति के अधिकार से भी वंचित कर दिया है।

कल्पना करो कि तुम नदी तट पर खड़े हो और कोई चाण्डाल, अछूत अथवा अन्य पापी नदी में डूब रहा है। उस समय तुम्हारा धर्म तुम्हें क्या कहता है? यदि वह यह कहता है कि वह तो चांडाल है नीच है, पापी है, मरता डूबता है तो डूबने दो अपने को इससे क्या? तो जरा हृदय पर हाथ रख कर बताओ कि तुम अपने इस मानवता के संस्कारों से भी शून्य धर्म को क्या कहोगे? और समस्त संसार तुम्हें एवं तुम्हारे धर्म को क्या समझेगा?

जैन धर्म मानवता के अधिकारों से किसी भी मानव प्राणी को वञ्चित नहीं रखना चाहता। वह इस सम्बन्ध में बहुत बड़ी व्यापक भावना रखता है। जैन धर्म की सहानुभूति केवल अछूतों तक ही सीमित नही है, वह तो पापी के प्रति भी सकट काल में रक्षा का आश्वासन देती है। जैन धर्म जीवन सुधार का पक्षपाती है, जीवन-सहार का नही।

मानव-समाज की अज्ञानता-जन्य सहार लीला बड़ी भयकर है। यह अज्ञानता का ही तो कुसस्कार है कि कुछ सप्रदाय अछूतो को धमपालन तक का अधिकार नहीं देते। उनका कहना है कि--धम जीवन की पवित्रता का अवश्य अचूक साधन है। परन्तु शूद्रो को, अछूतो को धर्म करने का अधिकार नहीं है। अत जब वे धम नहीं कर सकते तो पवित्र कैसे हो सकते हैं?

उपर्युक्त विचारवाले सज्जनों को जरा अपनी मनुष्योचित विचार-शक्ति से काम लेना चाहिए। उन्हें समझना चाहिए कि धर्म किसी के रिजर्व नहीं हो चुका है। वह किसी की पैतृक सम्पत्ति नही है, जिस पर अन्य किसी का अधिकार हो न हो। धम सब का है और धर्म के सब हैं। धर्म किसी की जातपाँत की ओर नही देखता। वह देखता है मनुष्य की एकमात्र आन्तरिक सद् भावना एव भक्ति को, जिसके बल पर वह जीवित रहता है। जिस प्रकार सूर्य प्रकाश और जलवायु आदि प्राकृतिक पदार्थों पर प्राणिमात्र का अधिकार है, उसी प्रकार धर्म एव भगवान की उपासना पर भी सबका समान अधिकार है। इसके लिए उन्हें कोई रोक नहीं सकता। यदि कोई हठात् रोकता भी है तो वह अपनी अज्ञानता का सबसे बड़ा उदाहरण उपस्थित करता है।

हरिजन बन्धुओं को धर्मस्थानों में जाने से क्यों रोका जाता है? क्या उनके प्रवश से धर्मस्थान अपवित्र हो जायँगे? क्या उनके वहाँ भजन करने से भगवान् अछूत हो जायगे? यदि वास्तव म ऐसी ही बात

है तो हो जाने दीजिए क्या डर है ? भला जो अपनी पवित्रता ही कायम नही रख सकता वह दूसरों को क्या खाक पवित्र बनाएगा ? जो भगवान् भगी आदि अछूतों को पवित्र तथा उच्च नहीं बना सकता प्रत्युत आप स्वयं ही अछूत हो जाता है, इस प्रकार के शक्ति—शून्य दुर्बल भगवान् से संसार क्या लाभ उठाना चाहता है ? हम तो ऐसे भगवान से सर्वथा निराश हैं। जैनधर्म की धारणा तो यह है कि भगवान् का स्मरण अपवित्र को भी पवित्र बनाने वाला है। जो पवित्र को ही पवित्र बनाता है वह बुझे हुए को ही बुझाता है। बुझे हुए को ही बार बार बुझाने से आखिर कुछ लाभ ?

यदि दूसरे दृष्टि बिन्दु से विचार करें तो एक नवीन ही प्रश्न सामने आता है। वह यह कि भगवान् तो स्वयं भंगी हैं। बेचारे भंगी उन्हें क्या भंगी बनायेंगे ? यदि एक बात सिपाही के व्यक्ति प्रेमपूर्वक परस्पर मिलते हैं तो फिर व्यर्थ ही बीच में रोड़े अटकाने वाले तुम तीसरे कौन ? आश्चर्य न हुआ कि भगवान् भंगी कैसे ? समाधान स्पष्ट है कि भंगी का काम गन्दगी साफ करके शुद्धि करना है। सो यह काम स्वयं भगवान् भी करते हैं। हाँ भंगी बाह्य शुद्धि करता है तो भगवान् अन्तरंग में मन की शुद्धि करते हैं। आखिर हैं तो शुद्धि करने के दृष्टि बिन्दु से दोनों एक समान ही। एक भौतिक शुद्धि-क्षेत्र का प्रतिनिधि है तो दूसरा आध्यात्मिक शुद्धि क्षेत्र का। दोनों का ही विश्व के हित सम्पादन-कार्य है। अतः दोनों के संगम में किसी प्रकार का भी विरोध नहीं है।

शब्दशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वानों ने धर्म का व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ किया है कि 'दुर्गतौ प्रपतज्जन्तुधारणात् धारयतीति धर्मः।' अर्थात् धर्म वह विश्व हितंकर वस्तु है जो अधःपतन की ओर जाते हुए लडखडाते जीवों को ऊँचा उठाता है पतित होने से बचाता है। संसार में धर्म ही वह शक्ति रखता है जो नीचातिनीच कहे जाने वाले अधम पुरुषों को भी एक दिन महापुरुषों के विश्व-वन्दनीय महान् पद पर पहुँचा देता है।

जिसके पास पर्याप्त बुद्धि है और विचार के लिए मन है, तथा जो वास्तविक रूप मे इनका उपयोग भी करना जानता है, वह इस बात को कदापि नहीं मान सकता कि एक भगी सदाचारपूर्वक जीवन व्यतीत करता हुआ भी, जन्म से भगी होने के कारण, सदा नीच ही रहता है और इसके विपरीत एक ब्राह्मण देवता दुराचार की साक्षात् मूर्ति होते हुए भी, ब्राह्मण कुल म जन्म लेने के कारण, सदैव ससार का पूज्य ही बना रहता है। यदि धर्म पतित व्यक्तियो को पवित्र नहीं बना सकता तो फिर वह किस रोग की दवा है ? पवित्र तो स्वय पवित्र है ही, और पतित पवित्र हो नहीं सकते, तो बताइए फिर व्यर्थ ही बात बात म धर्म की दुहाई किसलिए मचाई जाती है ? इस प्रकार के अकिंचित्कर धर्म से मानव समाज को क्या लाभ है ?

मनुष्य-मात्र के अधिकारो की जब कभी चर्चा चलती है, तब कुछ उच्च जातीय लोग अडगा लगाते हैं कि मनुष्य होते हुए भी सब मनुष्य समान नहीं हैं, अतएव सब के समान अधिकार भी नहीं हैं। इसी विचारधारा के लोगों ने अछूतो पर नाना प्रकार के अत्याचार किए हैं। उन्हें क्या सामाजिक और क्या धार्मिक सभी प्रकार के मानव-अधिकारो से वचित कर दिया है। अछूतों को सार्वजनिक भोजनालयों म भोजन नहीं करने दिया जाता, कूओं से जल नहीं भरने दिया जाता, धर्मशाला आदि स्थानों में ठहरने नहीं दिया जाता, तांगों आदि की सवारी पर सवर्णों के साथ बैठने नहीं दिया जाता, और धर्म स्थानों में भी स्वतन्त्रता पूर्वक प्रवेश नहीं करने दिया जाता। कितना भयङ्कर अन्याय है ? जातीय असमानता के इस भयङ्कर पाप की कुछ मर्यादा ही नहीं है।

जब कभी विचार शील विद्वानो ने जातीय भेद-भाव को मिटाने के लिए प्रयत्न किया है, तब ऊँची जाति के लोगों की ओर से कुतर्क उठाया गया है कि 'यदि ये लोग भी हमारी तरह ही रहने सहने लगे और समान अधिकार प्राप्त करने लगे तो फिर हम क्या करेंगे ? हमारी विशेषता ही

क्या रहेगी ? गुड़ और गोबर बराबर न हो जायेंगे ? बुद्धिमान् पाठक विचार सकते हैं कि यह कैसी विचित्र भ्रान्ति है ? इसका अर्थ तो यह हुआ कि जो कार्य हम करते हो वह अछूत कहे जाने वाले हरिजन भाई न करें। इस प्रकार तो हरिजनों को न भोजन करना चाहिए और न पानी ही पीना चाहिए। क्योंकि यदि ये हरिजन लोग भोजन पान करेंगे तो फिर आप उच्च कहे जाने वाले सवर्ण क्या करेंगे ? हरिजनों को सांस भी नहीं लेना चाहिए और जीवित भी नहीं रहना चाहिए। क्योंकि फिर आप ने सांस लेने और जीवित रहने की विशेषता ही क्या रही ? धार्मिक आचरण के क्षेत्र में भी यही आदर्श रहेगा। क्या हरिजन भाई केवल झूठ ही बोला करें और पाप आदि ही किया करें ? क्योंकि तभी तो तुम सत्य और अहिंसा धर्म का आचरण कर सकोगे ? अन्यथा समानता न हो जायगी ? क्यों यह बात ठीक है ? कितने शुद्ध विचार हैं ? खेद है, कुलीनता के इस मिथ्या अहंकार ने भारत को गिराते गिराते अधःपतन की चरम सीमा पर पहुंचा दिया है।

अन्तिम निवेदन के रूप में अब केवल यही कहना है कि अस्पृश्यता प्राचीन धर्म ग्रन्थ और वर्तमान समाज-शास्त्र के विज्ञान से सर्वथा विरुद्ध है। यह तो कुछ जाति मर्दित लोगों का चलाया हुआ वंशानुगत रोग है जिसने आज भारत को मृत्यु शैय्या पर लिटा दिया है। खेद है कि कुछ ये कुलाभिमानी सवर्ण कुत्ता और बिल्लियों तक से प्यार करते हुए देखे गए हैं यहाँ तक कि उनका मुख भी चूम लेते हैं। परन्तु जब हरिजनों का प्रश्न आता है तब वे ही लोग नाक भौंह सिकोड़ने लगते हैं और राम दुहाई मचाने लगते हैं। क्या हरिजन कुत्तों और बिल्लियों तक से भी गए गुजरे हैं ? समझ में नहीं आता कि मनुष्यों को पशुओं से भी नीच समझने का इनके पास कौनसा ईश्वरीय फर्मान आया है जिसे ये आंख मूंद कर मान रहे हैं।

जो लोग अछूतों से घृणा करते हैं, उन्हें समझना चाहिए कि वे स्वयं जिस प्रकार मनुष्य हैं उसी प्रकार हरिजन भी हैं। उच्च जाति के

लोगों के मस्तक पर कोई अनोखे स्वर्णशृङ्ग नहीं हैं, जो उनकी सर्वोपरि महत्ता को सूचित करते हो। हम सबकी जन्म भूमि भारत है। अत यदि हरिजन अस्पृश्य हैं तो हम सब भी अस्पृश्य ही रहेंगे। उच्च जाति के लोगों के पास अपनी स्पृश्यता के लिए कोई अलग प्रमाण पत्र नहीं है। यदि कहो कि हरिजन गदे रहते हैं, भला वे किस प्रकार स्पृश्य हो सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि हरिजनो की गदगी के मूल कारण आप ही हैं। आप लोगों के निरन्तर के अत्याचारों से ये गरीब अपने व्यक्तित्वको भूल गए हैं। इन्होंने अब इसी गदगी में ही आनन्द मान लिया है। यदि आप इन्हें इनकी उन्नति के लिए पर्याप्त अवसर दे तो ये अवश्य ही आपके समान स्वच्छ और साफ रहने लगेंगे? यह ध्रुव सत्य है कि शारीरिक अशुद्धि कोई स्थायी वस्तु नहीं है। इसके दूर होने में कुछ भी विलम्ब नहीं होता। आवश्यकता है शिक्षा की, जिससे ये अपने कर्तव्य का पालन करते हुए भी मनुष्योचित श्रेणी में आ सकें।

जैनधर्म का साधारण सा अभ्यास करने वाला साधक भी यह जानता है कि 'मनुष्य जाति एक है, उसमें किसी भी प्रकार का जन्म-मूलक उच्च नीचता का भेद-भाव नहीं है। जो मनुष्य जाति-मद में आकर किसी को नीच समझता है, घृणा करता है, वह सब से भयङ्कर पाप का आचरण करता है।' अतएव जैनधर्म के मानने वालों से आग्रह पूर्वक निवेदन है कि वे प्रचलित अस्पृश्यता को दूर करने के लिए मानव समाज मे विशाल जागृति पैदा करें और सर्वत्र समभाव का विशाल साम्राज्य स्थापित करें। धर्म का गौरव बिखरी हुई कड़ियों को मिलाने में है और अधिक बखेड़े देने मे नहीं।

: २७

आत्मा

आत्मा क्या है ? जो सदा अमर रहता है जिसका कभी नाश नहीं होता जो नारकी, पशु, मनुष्य और देव गतियों में नाना रूप पाकर भी कभी अपने अमर स्वरूप से भ्रष्ट नहीं होता वह आत्मा है। जिस प्रकार पुराना कपड़ा छोड़ कर नया पहना जाता है उसी प्रकार आत्मा भी पुराना शरीर छोड़कर नया धारण कर लेता है। जन्म मरण के द्वारा केवल शरीर बदला जाता है आत्मा का कभी नाश नहीं होता। यह आत्मा न शस्त्र से कटता है न आग से जलता है न धूप में सूखता है, न जल में भीगता है न हवा में उड़ता है। यह सब प्रकार से सनातन और अखण्ड है।

आत्मा ज्ञान-रूप है। हरएक वस्तु को जानना देखना मालूम करना आत्मा का ही धर्म है। जब तक मनुष्य जिन्दा रहता है अर्थात् शरीर में आत्मा रहता है तबतक जानता है देखता है सूँघता है, चखता है सुनता है सुख दुःख का अनुभव करता है। मगर जब शरीर में आत्मा नहीं रहता है तब कुछ भी ज्ञान-शक्ति नहीं रहती। अतः जैनधर्म में आत्मा को ज्ञान-स्वरूप कहा है।

आत्मा अमूर्त है। इसमें न रूप है न रस है न गन्ध है न स्पर्श है। आत्मा पकड़ने जैसी चीज नहीं है। सब पदार्थों में वायु को सूक्ष्म कहा है। परन्तु वायु का तो स्पर्श होता है आत्मा का तो स्पर्श भी नहीं होता। अतएव यह अमूर्त है। रूप रस आदि शरीर के धर्म हैं, आत्मा के नहीं।

संसार में आत्मा अनन्त हैं। अनन्त का अर्थ है जो गिनती से बाहर हो जो सीमा से बाहर हो जो माप तौल से बाहर हो। आत्माओं

का कभी संख्या की दृष्टि से अन्त नहीं होता, इसलिए अनन्त हैं । यही कारण है कि अनन्त काल से आत्माएँ मोक्ष में जा रही हैं, फिर भी संसार में आत्माओं का कभी अनन्त नहीं आया और न कभी भविष्य में आएगा। जो अनन्त हैं, फिर भला उनका अन्त कैसा ? यदि अनन्त का भी कभी अन्त आजाय, तब तो अनन्त शब्द ही मिथ्या होजाय।

आत्माओं के दो भेद हैं—'संसारी और सिद्ध।' सिद्धों में भेद का कारण कर्म मल नहीं रहता है, अतः वहाँ कोई मौलिक भेद नहीं होता। हाँ, संसारी दशा में कर्म का मल लगा रहता है, अतः संसारी जीवों के नरक, तिर्यंच आदि गति और एकेन्द्रिय आदि-जाति इस प्रकार भिन्न भिन्न दृष्टि से अनेक भेद हैं।

यहाँ हम स्थावर, त्रस, संज्ञी, असंज्ञी आदि भेदों में न जाकर आत्माओं के और ही तीन भेद बताना चाहते हैं—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा, (३) परमात्मा। ये तीन भेद भावों की अपेक्षा से हैं। जैनधर्म के आध्यात्मिक ग्रन्थों में इनका विस्तृत विवेचन किया है, किन्तु यहाँ संक्षेप में ही उनका स्वरूप बतलाते हैं—

(१) बहिरात्मा

प्रथम श्रेणी के बहिरात्मा प्राणी हैं। बहिरात्मा का अर्थ है—'बहिर्मुख आत्मा,'जो आत्मा संसारके भोग विलासों में भूले रहते हैं, जिन्हें सत्य और असत्य का कुछ भान नहीं रहता,जो धर्म और अधर्म का विवेक भी नहीं रखते, वे बहिरात्मा हैं। बहिरात्मा आत्मा और शरीर को पृथक् पृथक् नहीं समझता, शरीर के नाश को आत्मा का नाश मानता है। यह दशा बहुत बुरी है। यह आत्मा का स्वभाव नहीं, विभाव है। अतः इस दशा को त्याग कर अन्तरात्मा बनना चाहिए।

(२) अन्तरात्मा

द्वितीय श्रेणी के विकसित आत्मा अन्तरात्मा कहलाते हैं। अन्तरात्मा का अर्थ है—'अन्तर्मुख आत्मा।' जो आत्मा भौतिक सुख के

: २८ :

गवान् महावीर और अछूत

आजकल भारत का धार्मिक वायुमडल बहुत कुछ क्षुब्ध हो रहा है। जिधर देखो उधर ही धार्मिक क्रान्ति की लहर दौड़ रही है। आज का युग धार्मिक सघर्ष का युग माना जाता है। यही कारण है कि वर्तमान युग में धार्मिक विचारों को लेकर खासी मुठ भेड़ होती रहती है।

आजकल जो सब से बड़ी मुठभेड़ हो रही है, वह छूत और अछूतों की व्यवस्था के सम्बन्ध में है। इस के विषय में एक पक्ष कुछ व्यवस्था देता है, तो दूसरा पक्ष कुछ और ही। इस समय प्राय समस्त भारत, स्थिति-पालक और सुधारक नामक दो परस्पर विरुद्ध पक्षों मे बटा हुआ है। दोनों ही पक्षों की ओर से अपने अपने पक्ष की पुष्टि के लिये आकाश पाताल एक किए जारहे हैं। जहाँ तहाँ शास्त्रार्थ पर शास्त्रार्थ हो रहे हैं और अपने अपने विजय-नाद की गगन भेदी ध्वनियां गूँज रही हैं।

परन्तु वास्तविक निर्णय क्या है, यह अभी अध बीच में ही लटक रहा है। अत एव अतिम निर्णय के लिए प्रत्येक धर्म वाले अपने-अपने धर्म प्रवर्तका को न्यायाधीश के रूप में आगे ला रहे हैं और उनके इस सम्बन्ध मे दिए हुए निर्णय प्रकट किए जा रहे हैं। इससे बहुत कुछ सत्य पर प्रकाश पड़ा है, फिर भी वास्तविक निर्णय तो अभी अधकार मे ही है। उसको प्रकट करना, प्रधान न्यायाधीश के हाथ में है। वह प्रधान न्यायाधीश और कोई नहीं, भारतवर्ष के अन्तिम ज्ञान सूर्य तीर्थपति भगवान् महावीर स्वामी हैं। इन्होंने अपने समय में ससार पर जो उपकार किए हैं, उन्हें आज के सभी इतिहासज्ञ जैन और अजैन विद्वान् एक स्वर से स्वीकार कर रहे हैं। अस्तु विश्वहितैपिता के नाते भगवान् महावीर को विश्व हितैषी निर्णय के लिये प्रधान न्यायाधीश का पद

लाभ प्राप्त हो जाता है। अब संक्षेप में यह देखना है कि इस मर्यादित छूत अछूत सम्बन्धी मान्यता के सम्बन्ध में, भगवान् महावीर का अपना निजी दर्शन और निर्णय क्या है?

आज से करीब ढाई हजार वर्ष पहले छूत अछूत के सम्बन्ध में भारत की अब से भी कहीं अधिक और बहुत अधिक भयंकर स्थिति थी। शूद्रों की छाया तक से घृणा की जाती थी, और उनका मुँह देखना भी बड़ा भारी पाप समझा जाता था। उन्हें सार्वजनिक धर्म-स्थानों एवं सभाओं में जाने का अधिकार नहीं था। वे नगर तो क्या जिन रास्तों पर पशु चल सकते हैं उन पर भी नहीं चल सकते थे। वेद आदि धर्म शास्त्र पढ़ने तो दूर रहे बेचारे सुन भी नहीं सकते थे यदि किसी अभागे ने राह चलते हुए कहीं भूल से सुन भी लिया तो उसी समय धर्म के नाम पर दुहाई मच जाती थी और धर्म के ठेकेदारों द्वारा उसके कानों में उबलता हुआ सीसा गलवाकर भरवा दिया जाता था। हा! कितना घोर अत्याचार! राक्षसता की हद हो गई। बात यह थी कि जाति वाद का बोलबाला था, धर्म के नाम पर अधर्म का विष वृक्ष सींचा जा रहा था।

उसी समय क्षत्रिय कुण्ड नगर में राजा सिद्धार्थ के यहाँ भगवान् महावीर का अवतार हुआ। उन्होंने अपनी तीस वर्ष की अवस्था में भरपूर जवानी में, राज्य वैभव को ठुकरा कर मुनि पद धारण कर लिया और कैवल्य प्राप्त होते ही छुआछूत के विरुद्ध बगावत का झंडा खड़ा कर दिया। अन्त्यज और अस्पृश्य कहलाने वाले व्यक्तियों को उन्होंने अपने संघ में वही स्थान दिया जो ब्राह्मण क्षत्रिय आदि उच्च कुल के लोगों को था।

भगवान् महावीर के इस युगान्तरकारी विधान से ब्राह्मणों एवं दूसरे उच्च वर्गों के क्षेत्र में बड़ी भारी खलबली मची। फलतः उन्होंने इसका यथाशक्य घोर विरोध भी किया। परन्तु भगवान् महावीर आदि से

अन्त तक अपने प्रण पर, अपने सिद्धान्त पर अटल रहे, उन्होंने इस विरोध की तनिक भी परवाह न की। अन्ततोगत्वा प्रभु ने हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक समभाव की विजय दुंदुभि बजादी और अस्पृश्यता के कतई पैर उखेड़ दिए। विरोधी लोग देखते ही रह गये, उनका विरोध कुछ कारगर न हो सका।

भगवान महावीर की व्याख्यान सभा मे, जिसे समवसरण कहते हैं, आने वाले श्रोताओं के लिए कोई भी भेदभाव नहीं था। उनके उपदेश मे जिस प्रकार ब्राह्मण आदि उच्च कुलों के लोग आते जाते थे, ठीक उसी प्रकार चाडाल आदि भी। बैठने के लिए कुछ पृथक्-पृथक् प्रबन्ध भी नहीं होता था। सब के सब लोग परस्पर भाई भाई की तरह मिल जुल कर बैठ जाया करते थे। किसी को किसी प्रकार का सकोच नहीं होता था। व्याख्यान सभा का सब से पहला कठोर, साथ ही मृदुल नियम यह था कि कोई किसी को अलग बैठने के लिए तथा बैठे हुए को उठ जाने के लिए नहीं कह सकता था। पूर्ण साम्य वाद का साम्राज्य था, जिसकी जहाँ इच्छा हो, वहां बैठे। आज के समान कोई झिड़कने तथा दुत्कार ने वाला नहीं था। क्या मजाल, जो कोई जात्यभिमान से आकर कुछ आना-कानी कर सके। यह सब क्यों था ? भगवान् महावीर वस्तुत दीन बन्धु थे, उन्हें दीनों से प्रेम था।

भगवान् महावीर के इन उदार विचारों तथा व्याख्यान सभा सम्बन्धी नियमों के सम्बन्ध म दो मुख्य घटनाएँ ऐसी हैं, जो इतिहास के पृष्ठों पर सूर्य की तरह चमक रही हैं। नियम सम्बन्धी एक घटना भारत के प्रसिद्ध नगर राजगृह मे घटित हुई है। राज-गृह नगर के गुण शील बाग में भगवान् वीर प्रभु धर्मोपदेश दे रहे थे। समवसरण में जनता की इतनी अधिक भीड़ थी कि समाती न थी। स्वय मगधपति महाराजा श्रेणिक सपरिवार भगवान् के ठीक सामने बैठे हुए उपदेश सुन रहे थे। इतने ही म एक देवता, राजा श्रेणिक की परीक्षा के निमित्त चांडाल का रूप बनाकर समवसरण मे आया और राजा श्रेणिक के

आगे जाकर बैठ गया। वहाँ पर भी निमन्त्रण देता। पुनः पुनः भगवान् के चरण कमलों को हाथ लगाता रहा और अपना मस्तक रगड़ता था। इस व्यवहार से राजा अधिक अंदर ही अंदर कुढ़ता था किन्तु नियम सम्बन्धी विवशता के कारण प्रकट रूपमें कुछ भी नहीं बोल सकता। यह कथा आगे चल विस्तृत है। किन्तु अपना प्रयोजन केवल यहीं तक रह जाता है। इस घटना से पता लगाया जा सकता है कि उपर्युक्त सभा सम्बन्धी नियम का कितनी कठोरता के साथ पालन होता था?

दूसरी दलितों के प्रति वत्सलता वाली घटना पोलासपुर की है। वहाँ के सद्दालपुत्र नामक कुम्हार की प्रार्थना पर भगवान् महावीर स्वयं उसकी निजी कुम्भकार शाला में जाकर ठहरे थे। वहीं पर उसको मिट्टी के बर्तनों का प्रत्यक्ष दृष्टान्त देकर धर्मोपदेश दिया और अपना शिष्य बनाया। भविष्यमें यही कुम्हार भगवान के श्रावकों में मुख्य हुआ एवं श्रावक संघ में बड़े आदर की दृष्टि से देखा गया। उपासक दशांग सूत्र में इस के वर्णन का एक स्वतंत्र अध्याय है अतः विशेष जिज्ञासु वहाँ देख सकते हैं। उपलब्ध आगम साहित्य में जहाँ तक पता है शायद यही एक घटना है जो भगवान् इस प्रकार गृहस्थ के काम-भवन में ठहरे हैं। इससे भगवान् का दलितों के प्रति प्रेम का पूर्ण परिचय मिल जाता है। बड़े बड़े राजा महाराजा सेठ साहूकारों की अपेक्षा भगवान ने एक कुम्हार को कितना अधिक महत्त्व दिया है? जिस युग महा पुरुष का, एक साधारण कुम्हार के घर पर पधारना कोई मामूली घटना न समझिएगा।

भगवान् महावीर के वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी विचार अतीव उग्र एवं क्रान्तिकारी थे। वे जन्मतः किसी को ब्राह्मण क्षत्रिय शूद्र आदि नहीं मानते थे। जहाँ कहीं काम पड़ा है उन्होंने कर्तव्य पर ही जोर दिया है। इनके विषय में उनका स्पष्ट मत यह था—

"कम्मुणा बम्भणो होई कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवइ कम्मुणा।"

—उत्तराध्ययन २५, ३३

अर्थात् –जन्म की अपेक्षा से सब के सब मनुष्य हैं। कोई भी व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र हो कर नहीं आता। वर्ण व्यवस्था तो मनुष्य के अपने स्वीकृत कर्तव्यों से होती है। अत जो जैसा करता है, वह वैसा ही हो जाता है। अर्थात् कर्तव्य के बल से ब्राह्मण शूद्र हो सकता है, और शूद्र ब्राह्मण हो सकता है।

भगवान् महावीर के सघ मे एक मुनि थे। उनका नाम था हरिकेशी। वे जन्मत चाडाल कुल में पैदा हुए थे। उनका इतना त्यागी एव तपस्वी जीवन था कि बड़े बड़े सार्वभौम सम्राट् तक भी उन्हें अपना गुरु मानते थे और सभक्तिभाव उनके चरण कमल छूआ करते थे। और तो क्या, बहुत से देवता भी इनके भक्त हो गए थे। एक देवता तो यहाँ तक भक्त हुआ कि हमेशा तपस्वी जी की सेवा में ही रहने लगा। इन्हीं घोर तपस्वी, हरिजन मुनि हरिकेशी की महत्ता के सम्बन्ध मे, पावापुरी की महती सभा म भगवान् महावीर स्वय फर्माते हैं—

"पच्च खु दीसइ तवो-विसेसो न दीसई जाइ विसेसु कोई।
सोवागपुत्त हरि एस साहु, जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा॥"

—उत्तराध्ययन १२, ३७

अर्थात्–प्रत्यक्ष में जो कुछ महत्त्व दिखाई देता है, वह सब गुणों का ही है, जाति का नहीं। जो लोग जाति को महत्व देते हैं, वे वास्तव में बहुत भयकर भूल करते हैं। क्योंकि जाति की महत्ता किसी भाति भी सिद्ध नहीं होती। चाडाल कुल में पैदा हुआ हरिकेशी मुनि, अपने गुणों के बल से आज किस पद पर पहुचा है। इसकी महत्ता के सामने बिचारे जन्मत ब्राह्मण क्या महत्ता रखते हैं? महानुभाव हरिकेशी मे अब चाडालपन का क्या शेष है, वह तो ब्राह्मणों का भी ब्राह्मण बना हुआ है।

भगवान् महावीर जातिवाद के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने अपने धर्म प्रचार काल मे जातिवाद का अत्यन्त कठोर खडन किया था और एक

तरह से उस समय जातिवाद का अस्तित्व ही नष्ट कर दिया था। जातिवाद के खंडन में उनकी युक्तियां बड़ी ही सजोड़ एवं अकाट्य हैं। जहाँ कहीं जातिवाद का प्रसंग आया है वहाँ भगवान् ने केवल पांच जातियां ही स्वीकार की हैं जो कि जन्म से मृत्यु पर्यन्त रहती हैं बीच में भंग नहीं होतीं। वे पांच जातियां ये हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। इनके अतिरिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि लौकिक जातियों का जाति-रूप से आगम साहित्य में कहीं पर भी विधानात्मक उल्लेख नहीं मिलता। यदि श्रमण भगवान् महावीर प्रचलित जातिवाद को सचमुच मानते होते तो वे वैदिक धर्म की भांति कदापि अन्त्यज लोगों को अपने संघ में आदर-योग्य स्थान नहीं देते। भगवान् ने अन्त्यज तो क्या, अनार्यों तथा म्लेच्छों तक को भी दीक्षा देने का अधिकार दिया है और अन्त में कैवल्य प्राप्त कर मोक्ष पाने का भी बड़े जोरदार शब्दों से समर्थन किया है। धर्म शास्त्र पढ़ने पढ़ाने के विषय में भी उनके लिए खुला दरवाजा रखने की आज्ञा दी है। इस विषय में किसी के प्रति किसी भांति की प्रतिबंधकता का होना उन्हें कतई पसन्द नहीं था।

जातिवाद का खंडन करते हुए भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में जातिवाद को घृणित बताया है और जातिमद से अकड़ने वाले लोगों को काफी लताड़ बताई है। आठ मदों में से प्रथम जाति मद के प्रति भगवान् का यह भाव है कि जातिमद मनुष्य के घोर अधःपतन का कारण है। जो मनुष्य जातिमद में आकर ऐंठने लग जाते हैं, वे इस लोक में भी अपना उच्च व्यक्तित्व खो बैठते हैं और परलोक में भी नरक तिर्यञ्च आदि अधम गतियों में घन-घोर यातनाएँ भोगते हैं। जातिवाद का सहारा लेकर किसी को घृणा की दृष्टि से देखना या अपमानित करना बड़ा भारी भीषण पाप है। वास्तव में जिन्हें अस्पृश्य कहना चाहिए, वे पाप ही हैं। अतः घृणा के योग्य भी वे ही हैं न कि मनुष्य। अतः प्रत्येक का कर्तव्य है कि वह स्वयं अपने को पापों के कारण अस्पृश्य समझे और प्रचलित अस्पृश्यता को दूर करने के लिए भरसक प्रयत्न करे। भला

जो स्वय मललिप्त है, वे दूसरे मललिप्तो से क्यों कर ऊँचे हो सकते हैं?

कुछ लोग उच्च गोत्र तथा नीच गोत्र का हवाला देकर भगवान् महावीर को जन्मत उच्च-नीचता का समर्थक बतलाने की चेष्टा करते हैं, वे यथार्थ मे भूलते हैं। उच्च नीच गोत्रों का वह भाव नहीं है, जैसा कि कुछ लोग समझे हुए हैं। गोत्र व्यवस्था का यह कोई नियम नहीं है कि वह जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त रहे ही, बीच में परिवर्तित न हो। गोत्र व्यवस्था का सम्बन्ध भी तो अन्ततो गत्वा गुणो से ही लगता है। इस के लिए भगवान महावीर के कर्म-सिद्धान्त का तलस्पर्शी परिशीलन करना चाहिए। बिना इसके यथार्थता का भान होना कठिन ही नहीं, अति कठिन है। भगवान ने आत्मिक विकास की तरतमता की दृष्टि से साधक जीवन के लिए चौदह श्रेणिया बतलाई हैं, जिन्हें जैनागम की परिभाषा मे गुण स्थान कहते हैं। प्रत्येक जीव को, जो मोक्ष प्राप्त करता है, इन चौदह श्रेणियों को उत्तीर्ण करना होता है। इन श्रेणियो के वर्णन मे भगवान् ने कहा है कि मनुष्य को नीच गोत्र का उदय प्रथम के चार गुण स्थानो तक ही रहता है आगे के गुण स्थानो मे जाते ही नीच गोत्र नष्ट हो जाता है और उसके स्थान मे उच्च गोत्र का उदय हो जाता है। पचम गुणस्थान सदाचारी गृहस्थ का होता है, अत स्पष्ट सिद्ध है कि चारित्र शुद्ध होते ही, मनुष्य नीच गोत्र से उच्च गोत्र वाला बन जाता है। यदि गोत्र का सम्बन्ध नियत रूप से आमरण होता तो भगवान् यह गुण-सम्बन्धी व्यवस्था कदापि नहीं देते। अस्तु गोत्र शब्द के वास्तविक अर्थ की अनभिज्ञता के कारण जन्मत मृत्यु पर्यन्त उच्च नीचता की धाधली मचाने वाले सज्जन अपनी भूल को दूर करें और भगवान् महावीर के उदार विचारों को अनुदार बनाने का दु साहस न करें।

अन्त में मुझे भगवान् महावीर के अनन्य उपासक जैन बधुओ से यह कहना है कि अगर तुम भगवान् महावीर के सच्चे भक्त हो और उन्हें

अपना धर्म-पिता मानते हो तो उनके कदमों पर चलो। संसार में सच्चा सपूत वही कहलाता है जो अपने पिता के कामों का अनुसरण करता है। यह छूआ छूत का झगड़ा तुम्हारा अपना जैनधर्म का नहीं है, यह तो तुम्हारे पड़ौसी वैदिक धर्म का है, जो तुम्हारी दुर्बलता के कारण जैनधर्म के अन्दर भी घुस बैठा है। अफसोस जिस नीचता को तुम एक दिन अपने पड़ौसी के घर पर भी नहीं रहने देना चाहते थे और इसके नाश के लिए समय समय पर अपना बलिदान तक देते आए थे, वही नीचता आज तुम लोगों में पूज्य रूप से स्थान पाए हुए है। यह कितनी अधिक लज्जा की बात है! समझ लो, छूआ छूत के कारण तुमने भगवान् महावीर के और अपने महत्त्व को कुछ घटाया ही है, बढ़ाया नहीं। भगवान् महावीर का जन्म दुखियों और नीचों के उद्धार के लिए ही हुआ था। उनके उपदेशों में इसी सेवा धर्म की ध्वनि गूंज रही है। आज के अछूत सब से अधिक दुखी हैं और नीच माने जाते हैं, अतः इनके लिए जो कुछ तुम कर सकते हो, करो और समस्त पृथ्वी पर से छूआ छूत का अस्तित्व मिटा दो।

: २६ :

आदर्श स्वावलम्बन

(१)

'स्वावलम्बन'--कितना मधुर शब्द है । हृदय आनन्दातिरेक से परिप्लुत हो जाता है। 'स्वावलम्बन'--उस पूर्ण स्वतन्त्रता का द्वार है, जिसके लिये प्राणिमात्र सदा सचेष्ट रहता है, किन्तु स्वावलम्बन के अभाव से वह नहीं मिल पाती। स्वावलम्बन के बिना कोई भी, कभी भी, परतन्त्रता की दु खद बेडियो से छुटकारा नहीं पा सकता । किसी भी देश, जाति, धर्म, या व्यक्ति का इतिहास लो, उसकी उन्नति और अवनति के मूल में इसी स्वावलम्बन का अस्तित्व एव नास्तित्व रहा हुआ मिलेगा । जब मनुष्य की हृदय भूमि में स्वावलम्बन का बीज अकुरित हो उठता है, तब ससार की कोई भी शक्ति उसे पश्चात्पद नहीं कर सकती। वह एक न एक दिन अत मे अपने ध्येय पर पहुच कर ही रहता है। विपत्तियों के बार-बार प्रलय कालिक झञ्झा-वातों के कारण, जब मनुष्य का हृदय मेरु विचलित होने लगता है, तब स्वावलम्बन ही उसे फिर पहिले से भी कहीं अधिक दृढ एव स्थिर कर देता है । बस हृदय मेरु की स्थिरता और अस्थिरता पर ही, मनुष्य का अपना जीवन मरण रहा करता है। अतएव एक कवि की भाषा में यो भी कहा जा सकता है कि--"स्वावलम्बन जीवन है, तो परावलम्बन मृत्यु" ।

मनुष्य यदि चाहे तो वह देव बन सकता है, यदि कुछ और आगे चाहे तो महादेव बन सकता है। परन्तु कब ? जब कि वह स्वावलम्बन का सच्चा पुजारी हो जाय। ससार में जितने भी महा पुरुष हुए हैं, वे सब के सब इस स्वावलम्बन के द्वारा ही महापुरुष बन सके हैं । यह कोई अत्युक्ति नहीं है। यह तो वह ध्रुव सत्य है, जिसमें क्यों और क्या के

जनताका कदापि गुजारा नहीं हो सकता। आज समस्त सृष्टि की परिपुष्टि के लिये भारत की ध्वजा फहराने वाले एक महामान्य महापुरुष की जीवन घटना आपके समक्ष रखी जाती है जो महाकवि नैणसुख के शब्दों में दूसरों को ताकत पर झपटने वाले वीरों के प्रति कह रही है—

'आप बने बलवान कहावे परका निज अपूरा रे

(२)

सम्भवतः पोह-माह का महीना होगा। सर्दी खूब जोरों से पड़ रही थी। हवा तेज और ठंडी चल रही थी। मनुष्य हर वक्त कपड़ों में लिपटे रहते थे। फिर भी शरीर में कँप कँपी छुटती थी, और दाँतों की बीणा किट किट करके बजती ही रहती था। अधिक क्या, मारे सर्दी के लोगोंको अपने घरों से बाहर निकलना मौत हो रहा था। इसी समय एक योगिराज, सुनसान वन में नदी तट पर ध्यान लगाये खड़े थे और आत्मा से परमात्मा होने की प्रक्रिया साध रहे थे। योगिराज नंगे बदन थे। उनके पास कोई भी शीत-निवारक साधन नहीं था। कल कलनिनादिनी नदी की ऊँची नीची तरंगों पर कलोलें खाता हुआ हवा का तेज झोंका आता और योगिराज के कोमल-यद्यपि कठोर शरीर को छूकर सन-सनाता हुआ आगे चला जाता। योगिराज अपने आप में मस्त थे। उन्होंने शरीर को शरीर नहीं समझा हुआ था। प्रत्युत प्रकृति देवी के वे संग-ठित उपसर्ग उन्हें अपने समक्ष नत मस्तक करने में लाचार हो रहे थे।

ये योगिराज और कोई नहीं हमारे चरित्र नायक भगवान् महावीर थे। आपने अभी कुछ दिन पहिले ही राज्य वैभव को ठुकराकर मुनि वृत्ति धारण की थी। धर्म एवं समाज के नाम पर होने वाले तत्कालीन भयङ्कर अत्याचारों से आपके जीवन में एक अपूर्व क्रान्ति थी, जिसके कारण आप सर्वथा एकान्त निर्जन वनों में अत्यन्त उग्र तप कर रहे थे और भारत में पुनः शान्ति का साम्राज्य स्थापित करने के लिए उसके योग्य आत्म-शक्ति संचय करने में लगे हुए थे। तब आपने एक छोटे से परिवार के स्थान में बड़े परिवार की चिन्ता की। अर्थात्—आरम्भ

पारिवारिक प्रेम अब अपने पितृ वश तक ही सीमित नहीं था, प्रत्युत बढते-बढते समग्र विश्व पर पहुच चुका था। आप का यह तप कालीन विश्व हितेच्छु जीवन, मोह मायामत्त ससारी जीवों के समक्ष एक नवीन शिक्षा रख रहा था—

"अहता ममता त्याग कर्तुं यदि न शक्यते।
अहता ममताभाव, सर्वत्रैव विधीयताम् ॥"

(३)

"महात्माजी, बताइए मेरी गायें कहा हैं? इस प्रकार चुप्पी साधने से तो काम नहीं बनेगा? मैं तो तुम्ह भले आदमी समझ कर ही गायें सौंप गया था। परन्तु तुम यह क्या कर रहे हो? कुछ थोड़ा बहुत ईमान ठिकाने है, या सच मुच हस के वेष मे बगुले ही हो?"

यह ककश शब्दावली उस ग्रामीण गवाले की है, जो इसी जङ्गल में गायें चरा रहा था, पर किसी आवश्यक कार्य के लिए ध्यानस्थ भगवान महावीर को अपनी गायों की देख रेख के लिए कह कर तथा भगवान् के मौन को ही स्वीकृति समझ कर गाव मे चला गया था। अब यह काम करके लौटा है, किन्तु गायों को न पाकर उद्विग्न हो रहा है एव आवेश में आकर भगवान से कुछ कह रहा है। गायों के सम्बन्ध में यह बात हुई कि भगवान् ध्यान में थे, अत उन्होंने गायों की सँभाल अपने ऊपर न ली थी। गायें इधर उधर घूमती घामती बहुत दूर नदी के जङ्गल एव नले नालों मे पहुच गई थी, और गवाले को बहुत कुछ देखने भालने पर भी न प्राप्त हो सकी थीं।

गवाले की कर्कश ध्वनि से आस पास के वन निकुञ्ज ध्वनित हो उठे, किन्तु भगवान महावीर का हृदय अणुमात्र भी ध्वनित न हुआ। वे अपने आत्म ध्यान मे उसी प्रकार खड़े रहे, मानो उन्होंने कुछ सुना ही न हो। अत गवाला फिर दुगुने आवेश से बोला—"अरे धूर्त ठग, बोलता है या मुझ से अपनी मरम्मत करवाना चाहता है। बच्चू, कुछ होश भी है, इस

औंधे मुह धड़ामसे जमीन पर गिर पड़ा। उसकी वेदना पूर्ण हाहाकारात्मक चीत्कार वायु मण्डल में गूँजती हुई अनन्त अन्तरिक्ष म विलीन होगई।

"देवराज सम्भल कर, जरा धैर्य से काम लो। यह सर्वथा निरपराध है, इसे मारना ससार म सब से बड़ा पाप है। यदि अपराधी भी है तो वह मेरा है, न कि तुम्हारा। तुम व्यर्थ ही बीच म दड देने वाले कौन होते हो ? मालूम होता है, भक्ति के आवेश मे तुम्हारी बुद्धि भ्रान्त होगई है। खबरदार, इसे मारा ता!" भगवान ने मेघ के समान गम्भीर ध्वनि से ध्यान खोलते हुए कहा। इन्द्र आश्चर्य से मुग्ध था। गवाला जीवन आशा से हर्षित था। भगवान आदर्श करुणा-स्रोत से परिप्लुत थे। सौम्य मुख मण्डल पर अखण्ड तपस्तेज झलक रहा था। भगवान महावीर का यह आदर्श मूक सकेत कर रहा था—

'उपकारिषु य साधु साधुत्वं तस्य को गुण ?
अपकारिषु य साधु, स साधु सद्भिरुच्यते ॥'

(५)

"प्रभो, आपकी आज्ञा है तो इसे छोड़ देता हूं। परन्तु भविष्य बहुत अधिक सङ्कट मय दिखाई दे रहा है। पूरे बारह वर्ष तक आपको विपत्तियों की भयावह घाटियों में से गुजरना होगा। मनुष्यों तथा देवों द्वारा होने वाले घनघोर उपसर्ग अपनी स्मृति मात्र से ही शरीर में कँप-कँपी छुटा रहे हैं। मेरा वज्र कठोर हृदय तो, केवल आज की घटना से धक् धक् कर रहा है और अपने स्थान से विचलित सा हो रहा है। अतएव भगवन्! आज्ञा दीजिए। यह सेवक, अब से बारह वर्ष के लिए, आप की चरण-सेवा में रहना चाहता है।" इन्द्र ने विनय-पूर्वक हाथ जोड़ते हुए प्रार्थना की।

"देवेन्द्र, विचार से काम लो। कुछ पता भी है, तुम कहां और किस के आगे बोल रहे हो। जिस सेवा के लिए तुम कहते हो, उसमें तो मेरा घोर अपमान अन्तर्निहित है। क्यों, तुम्हारी सेवा का यह मतलब

हुआ न कि, मैं दुर्बल हूँ एवं असहाय हूँ। मैं अपनी रक्षा आप नहीं कर सकता। यदि वस्तुतः तुम यही समझ रहे हो तो यह तुम्हारा अपना कल्पित भ्रम है। तुम्हें याद रखना चाहिए कि मेरी अनन्त आत्म-शक्ति का कोई अन्त नहीं है। यदि मैं अपनी शक्ति का परिचय देना चाहूँ तो इन सब महाशय विरोधियों को एक बार ही ध्वस्त कर सकता हूँ। पर मैं ऐसा करना नहीं चाहता। मुझे कष्ट में ही आनन्द है। बदला से प्रभाव कर वापिस लौटना तथा किसी सहायक के मुँह की ओर देखना मेरे साधक-जीवन के सर्वथा विरुद्ध है। जिन्हें तुम शत्रु समझते हो वे मेरे आध्यात्मिक उत्थान के कारण हैं। तुम संसारी जीव हो अतः तुम और हम भिन्न भिन्न पथ के पथिक हैं। समझ लो अब मैं तुम्हारा नहीं रहा। अब मैं भगवान् बनने जा रहा हूँ। भगवान महावीर ने वाणी में अमृत रस भरते हुए दृढ़ता के साथ उत्तर दिया।

"भगवन्! आपका कहना सर्वथा सत्य है परन्तु सेवक का हृदय तो नहीं मानता। भला कहीं ऐसा हो सकता है कि स्वामी के ऊपर विरोधियों द्वारा भीषण आक्रमण होते रहें और सेवक बिलकुल अलग खड़ा हुआ देखता रहे। धिक्कार है, ऐसे नाम धारी सेवक को। प्रभो! यदि आपके कथन को ज्यों का त्यों मान्य किया जाय तो पृथ्वी पर से सेवा धर्म ही लुप्त हो जाय। यह ठीक है कि आप दुर्बल नहीं हैं। आप को किसी सहायक की अपेक्षा नहीं है। आप कष्ट में घबराना नहीं जानते। परन्तु हमारा भी तो कुछ कर्तव्य है। स्वामी आप नहीं घबराते हैं हम घबराते हैं। हम आपका कष्ट नहीं मिटाते अपना मिटाते हैं। क्या आप हम अपने निजी कष्ट मिटाने की भी आज्ञा न देंगे? स्वामी का कष्ट ही सेवक का कष्ट होता है—यह सिद्धान्त ध्यान में रखते हुए कृपया उत्तर दें। इन्द्र ने फिर दुबारा प्रार्थना करते हुए कहा।

इन्द्र! ठीक कहते हो, परन्तु यह तो एक प्रकार की गुलामी हुई। किसी की गुलामी में रहना मुझे कतई पसन्द नहीं। किसी व्यक्ति पर भरोसा न रख कर सर्वदा स्वावलम्बता की इच्छा करते रहना मेरे व्रत में

सब से बड़ी गुलामी है। गुलामी क्या, यो कहो कि जीते ही घोर नरक है। मैं इस गुलामी के नरक से स्वय छूटा हू और ससार को छुड़ाने जा रहा हू। देवराज, । बता सकते हो, सिंह और गरुड़ के सहायक कौन होते हैं ? नहीं, वे अकेले ही भयङ्कर निर्जन वनों में स्वतन्त्र विचरण किया करते है। शक्ति शाली कदापि झुंड बाध कर नहीं फिरते। हरिणों और कबूतरों के समान यदि कहीं तुमने सिंहो और गरुड़ों के झुड के झुड देखे हों तो बताओ। इन्द्र, जानते हो मैं कौन हू ? मैं जिन और अरिहन्त पद की साधना मे लगा हुआ वीर साधक हू। क्या ये पद मुझे आज्ञा देते हैं कि मैं दीन एव लाचार होकर, शत्रुओं से अपने को बचाने के लिए, किसी दूसरे की सहायता की ओर देखू ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। आज तक किसी भी आत्मलक्षी वीर ने इन्द्र, राजा या और किसी की सहायता के द्वारा जिन एव अरिहन्त पद को नहीं पाया। ये पद तो अपने आप लिए जाते है, किसी के देने दिलाने से नहीं। क्या तुम यह नया काम कर सकोगे ? हर्गिज नहीं, यह काम तुम्हारी शक्ति मे बाहर है। समझ में नहीं आता, यह तुम बार बार 'सेवा सेवा' क्या करते हो ? तुम्हारी सेवा का यही अर्थ है कि जिसकी तुम सेवा करो, वह अपग एव परमुखापेक्षी बन जाय। यदि ऐसा ही है तो यह भयङ्कर भूल है। सच्ची सेवा वही है, जिससे अपने बलबूते पर स्वय अपने पैरों खड़े रहना सिखाया जाय। तुम्हें अपने सेवा धर्म की तो भूमण्डल से नष्ट होजाने की चिन्ता है, किन्तु मेरे स्वावलम्बन धर्म की नहीं। जैसा तुम्हें अपना सेवा धर्म प्यारा है, वैसा ही मुझे अपना स्वावलम्बन है। बतलाओ, मैं अपने की रक्षा करू, या तुम्हारे की ? अगर तुम्हें सेवा धर्म पर ही विशेष आग्रह है तो सेवा करो, कौन मना करता है ? ससार सेवा के लिए पुकार रहा है। देवराज। दीन दुखी प्राणियों की सेवा मे ही मेरी सेवा समाविष्ट है। अपनी सेवा के लिए मैं कोई पृथक् स्थान नहीं रखता।" भगवान् महावीर ने गम्भीरता एव दृढता के साथ फिर उत्तर दिया।

भगवान् महावीर के इस प्रभाव शाली वक्तव्य को सुनकर इन्द्र

यह भगवान् महावीर ही थे, जिन्होंने सहायता के लिए आजीवन आजीजी करने वाले पुरुषत्व हीन संसार के आगे एक नया आदर्श रक्खा और अन्ततो गत्वा अखिल भूमण्डल पर स्वावलम्बन की विजय दुन्दुभि बजा डाली। भगवान् महावीर के भक्त जैनियो! तुम देख सकते हो, तुम्हारे भगवान् कैसे थे। अगर तुम्हें संसार में अपना अस्तित्व रखना अभीष्ट है तो आज ही भगवान् महावीर के इस ज्वलन्त आदर्श को अपना लो। आज के प्रगति शील युग मे वे लोग जीवित नहीं रह सकते, जो आमतौर से यही कहा करते हैं कि "क्या करें, कोई सहायता नहीं देता। हमारे क्या सिर पड़ी है, जो अकेले हम ही मारे-मारे फिरें। अगर अमुक व्यक्ति हमारे साथ खड़ा हो तो हम भी खड़े हो सकते हैं, नहीं तो नहीं।" इन विचारों का तो यह आशय हुआ कि सभी लोग नेता बन जायँ। परन्तु ऐसा कैसे हो सकता है? जिसे काम करने की धुन है, वह इधर उधर नहीं देखा करता। वह तो आंख बन्द कर रण क्षेत्र में कूद पड़ता है और एक छोर से दूसरे छोर तक क्रान्ति मचाता चला जाता है। जिसके हृदय में स्वावलम्बन के अदम्य अमृतजल का सञ्चार होजाता है, वह मनुष्यों में सिंह बन जाता है। सिंह को रोकने वाला कौन? उस के लिए अपने आप राह होती चली जाती है। यह सिंह-वृत्ति, तुम्हें भगवान् महावीर से मिलेगी। जिन्हें लेनी हो, लें और अपने को महावीर नहीं तो, कम-से-कम वीर तो अवश्य बनाएँ। महापुरुषों के जीवन कथानक सुनने के लिए नहीं होते, आचरण के लिए होते हैं। क्योंकि सच्चा उत्थान आचरण में ही है—

> "जीवन-चरित महापुरुषों के हमें शिक्षा देते हैं।
> हमभी अपना अपना जीवन स्वच्छ रम्य कर सकते हैं॥"